

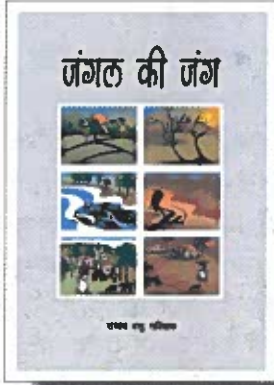
आदिवासी

विषय

जंगल का अधिकार

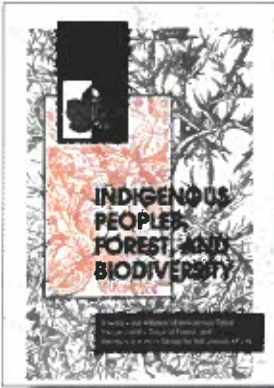


जंगल की जंग



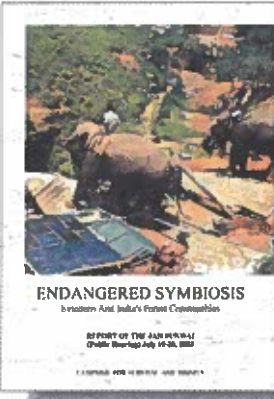
विश्व स्तर पर पर्यावरणीय दुर्दशा चिंतन के बीच झाड़खण्ड राज्य का गठन और उसके पुनर्नवीकरण की चुनौतियों में सर्वाधिक महत्व का एजेण्डा होगा यहाँ के वनों का संरक्षण और संवर्धन जिसके साथ यहाँ की अधिकांश आदिवासी-मूलवासी जनता का तात्कालिक जीवन-मरण जुड़ा है। हासिये पर जी रही वाणीविहीन (भोएसलेस) जनता से संबंधित विषय वस्तु होने के कारण इसे लेकर न तो देश के स्तर पर और न ही नवगठित राज्य के स्तर पर ही अबतक कोई सकारात्मक पहल की जा सकी है सिवाय इसके अंधाधुन्ध दोहन के। पिछले ढाई सौ वर्षों की औपनिवेशिक और नव औपनिवेशिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत हुए बेदखलीकरण के विरोध में हुए जनांदोलनों के फलस्वरूप कहने को तो संबंधित जनता की राहत के लिए कानून पर कानून बनते गए किन्तु यथार्थ में जनता अधिकाधिक बेदखल होती गई। वर्तमान में जंगल का आदमी अपने अस्तित्व की अंतिम लड़ाई लड़ रहा है।

INDIGENOUS PEOPLES, FOREST, AND BIODIVERSITY



This document illustrates the connection by tracing the participation of the International Alliance of the Indigenous-Tribal Peoples of the Tropical Forests in international fora dealing with environmental protection. Environmental instruments and policies need not necessarily have positive consequences for our lands and lives. They can easily be used to weaken our indigenous rights and limit our access to our resources. We are treated as irrelevant or, when noticed, courted as exotic sources of knowledge for bolstering the profits of big business. We oppose these views strongly and this book discusses ways in which the Alliance is trying to provide an alternative approach to environmental protection and sustainable resource use which respects both the forest and its inhabitants.

ENDANGERED SYMBIOSIS



The widespread evictions that followed the letter of the IGF Forests of 3rd May 2002 directing eviction of all encroachers on forestlands by 30th September 2002 triggered a wave of protests across the adivasi areas of the country. People kept asking how and why the rights of over 1.5 million forest dwelling, predominantly adivasi, families had been extinguished overnight and how the rightful inheritors of the forest had been transformed into encroachers, fit to be evicted. The search for answers, and more importantly, solutions, brought organisations and federations working on issues of forests and forest rights together in 2002 to form the Campaign for Survival and Dignity (CSD). The Campaign began with a single point programme: Stop evictions of subsistence based adivasis and other forest dwellers from their homes in the forest.

IW INTERNATIONAL WORK GROUP
FOR INDIGENOUS AFFAIRS

इस अंक में

संपादकीय

संजय बसु मल्लिक

4

एशिया

जंगल महल में जंगल के अधिकार :
किसके अधिकार, कहां और कौन से

सौमित्र घोष

12

आंध्र प्रदेश में विश्वबैंक की वानिकी परियोजना
से आदिवासी समुदायों का मोहभंग

टॉम ग्रिफिथ्स

17

संकटापन्न सहजीवन
बेदखलियाँ और भारत के वन समुदाय

21

भारत सरकार के बंधुआ मजदूर
टोगीयां काश्तकार

रोमा

26

इंडोनेशिया

इंडोनेशिया में आदिवासियों
के अधिकारों का संघर्ष

32

थाईलैंड

थाईलैंड की वन-संरक्षण नीतियों
पर कारेन जनों की प्रतिक्रिया
चंपोल मणिरतनावोंगसिरि

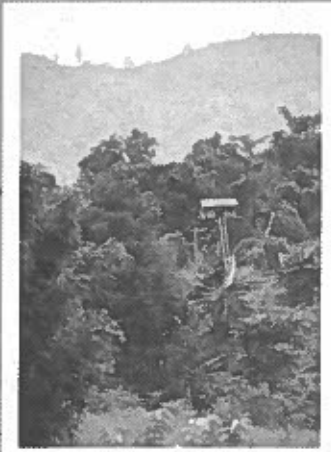
34

अंतराष्ट्रीय

झूम खेती और वन्यजीव
संरक्षण : एक बहस

संपादन : एलिसाबेथ केरखोफ और क्रिश्चियन एर्नी

44



IWGIA update

आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए – इंटरनेशनल वर्क ग्रुप फॉर
इंडिजीनस अफेयर्स
(अंतराष्ट्रीय आदिवासी विषयक कार्यदल)

आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए के उद्देश्य ओर गतिविधियाँ
इंटरनेशनल वर्क ग्रुप फॉर इंडिजीनस अफेयर्स
(अंतराष्ट्रीय आदिवासी विषयक कार्यदल) – आइ.
डब्ल्यू.जी.आइ.ए – एक गैर मुनाफा, राजनैतिक रूप
से स्वतंत्र, अंतराष्ट्रीय सदस्यता वाला संगठन है।
आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए पूरी दुनिया के आदिवासी जनों
के साथ सहयोग करता है और मानवाधिकारों एवं
आत्मनिर्णय, भूमि एवं संसाधनों पर नियंत्रण के
अधिकार, सांस्कृतिक अखण्डता और विकास के
अधिकार के लिए उनके संघर्ष में मदद करता है।
आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए का उद्देश्य आदिवासियों के

खुद के प्रयासों और इच्छाओं के साथ मेल रखते हुए
उनके अधिकारों की रक्षा करना और समर्थन करना
है। आदिवासी जनों के लिए खुद को संगठित करना
संभव बनाना और आदिवासी जनों के खुद के संगठनों
के लिए खुद के अधिकारों का दावा करने के रास्ते खोलना
एक महत्वपूर्ण लक्ष्य आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए आदिवासी
जनों के हितों व उद्देश्यों के बारे में समझ और जानकारी,
तथा उनके जुड़ाव को बढ़ाने के लिए स्थानीय क्षेत्रीय
एवं अंतराष्ट्रीय स्तर पर काम करता है।
आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए की गतिविधियों में शामिल है :
प्रकाशन, अंतराष्ट्रीय मनावधिकार कार्य, नेटवर्किंग,
सम्मेलन, अभियान और परियोजनाएँ।
आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए के बारे और अधिक जानकारी
के लिए कृपया हमारा वेब साइट – www.iwgia.org
देखें।

आदिवासी विषय जनवरी 2007

अंक : 2



बिरसा एवं आइ.डब्ल्यू.जी.आइ.ए का संयुक्त प्रयास

प्रधान संपादक : संजय बसु मल्लिक
संपादन एवं अनुवाद : सीताराम शास्त्री
परामर्श मंडली : रामदयाल मुण्डा, वासवी किड़ो, इन्दु नेताम, ओम गुरुड, फैसल अनुराग
संपादन सहयोग : जेवियर हमसाय, ब्लासियुस खलखो एवं अलोका कुजूर
लेआउट डिजाईन : ईश्वर दयाल

प्रकाशक

बिन्द्राय इन्सटीट्यूट फॉर रिसर्च स्टडी एंड एक्शन, ए-बी/1, अभिलाषा अपार्टमेंट, पुरुलिया रोड
राँची – 834001 (झाड़खण्ड). दुरभाष : 0651-2532067
E-mail: birsajiba@dataone.in Website: www.birsa.org

मुद्रक

आइ. डी. पब्लिशिंग, राँची – 834001

आदिवासी विषयक का आप नियमित पाठक बनना चाहते हैं तो प्रकाशक से संपर्क करें।

जंगलों में मानव जीवन अधिकाधिक कष्टकर होता जा रहा है। औपनिवेशीकरण के समय से भारत में तथा दुनिया में अन्यत्र वनों पर आश्रित समुदायों को स्थायी रूप से कंगालों में बदल दिया गया है जबकि वे उसके पहले सर्वाधिक खाद्य सुरक्षित होते थे। खाद्य संग्रह और झूम खेती के उपयुक्त मेल से वनों में रहने वाले हट्टे-कट्टे शरीर के होते थे और उनको मानसिक शांति प्राप्त थी। वे धरती माता की गोद में प्रकृति की संतान थे। लेकिन सभ्यता की प्रगति ने मनुष्यों और प्रकृति के बीच आदिवासी जनों द्वारा कायम किये गये युगों पुराने सहजीवी संबंधों को कुचल डाला। आर्थिक लाभ के लिए प्राकृतिक संसाधनों की लगातार बढ़ती मांग ने मनुष्यों की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को भारी नुकसान पहुंचाया। मनुष्य की भौतिक सुख-सुविधाओं की लोलुपता ने नैतिक मूल्यों को नीचे गिराया। प्राकृतिक संसाधनों के औपनिवेशिक और आंतरिक औपनिवेशिक दोहन और सामंती जमींदारों एवं औपनिवेशिक मालिकों की शिकारी झोंक ने वनों, वनाश्रित जनों और जीव जगत को इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर दिया कि उनकी पुरानी भव्यता मिट गयी। और अब वैश्वीकरण के युग में तीसरी दुनिया के देशों में आदिवासी समुदायों एवं वनों पर आश्रित अन्य समाजों के अवशेषों की कीमत पर वनों एवं वनों से जुड़े तत्वों का निर्ममतापूर्वक दोहन किया जा रहा है।

लेकिन धरती माता के विनाश की यह प्रक्रिया बिना किसी प्रतिवाद के नहीं हुई और आज तेजी से इसका प्रतिरोध बढ़ रहा है। दक्षिण एशियाई देशों में बड़ी संख्या में गैर-आदिवासी जन, खासकर के मजदूर वर्ग और बुद्धिजीवी, वनाधिकारों के लिए हो रहे वनजनों के जनांदोलनों के समर्थन में आगे आये हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारत में नागर समाज ने वन जनों को बेदखल करने के लिए वन विभाग द्वारा की गयी बर्बर एवं अपराधिक कार्रवाईयों की सख्त आलोचना की है। वन भूमि में वन निवासियों के भू-अधिकारों को मान्यता देकर तथा इस तथ्य को स्वीकार करके कि वे वनों की नौकरशाही से बेहतर वनों का प्रबंध कर सकते हैं, वन जनों के हितों की रक्षा करने के लिए एक वैधानिक समाधान की मांग की गयी। लगातार जनता का दबाव पड़ने से भारत में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार ने जनता की मांग को स्वीकार किया और इस तथ्य को स्वीकार किया कि आदिवासियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के साथ ऐतिहासिक रूप से अन्याय किया गया है। अंततः तृणमूल स्तरों पर किये गये लंबे संघर्ष और सरकार के साथ वार्ताओं के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने 15 दिसम्बर 2006 को

अनुसूचित जनजाति और परंपरागत वन निवासी (वनाधिकारों की मान्यता) विधेयक 2006 पारित किया। अभी यह एक अधिनियम का रूप लेने की प्रक्रिया में है। लेकिन, एक 'ऐतिहासिक विजय' के रूप में जो अधिनियम पारित किया गया है उसकी जमीन पर आदिवासी एवं अन्य वन निवासी समुदाय और अन्य कई लोग यह कहते हुए तीव्र आलोचना कर रहे हैं कि "जिस कठौती में अधिकार दिये गये हैं उसमें कई छेद हैं"। विधेयक में कई ऐब हैं जिससे इसके सरकार के अंदर और बाहर के निहित स्वार्थों के हाथों में विधेयक के लाभों को वंचित करने का एक साधन बनने की संभावना बनती है। इस प्रकार यह विधेयक 'ऐतिहासिक अन्याय' को दूर करने के नाम से वननिवासियों के साथ अन्याय के एक और दौर का सूत्रपात कर सकता है।

अधिनियम वनजनों को वन धृति के अधिकार की मान्यता नहीं देता है। वैसे, विश्व वन धृति में इस समय एक ऐतिहासिक संक्रमण की प्रक्रिया चल रही है। सरकार की ओर से कई वर्षों के प्रतिरोध के बाद, अंततः वनों के स्वामित्व पर समुदाय के दावों ने जोर पकड़ा है और उनकी स्वीकृति की दिशा में बातें आगे बढ़ी हैं। कई सरकारें आदिवासी समुदायों और दूसरों के स्वामित्व के दावों को मान्यता देना और सैकड़ों वर्ष पहले औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा हड़पी गयी भूमियों पर उनके अधिकारों को वापस देना शुरू कर रही हैं।

अधिनियम में यह बात भी स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी है कि वन निवासियों को वनों के प्रबंध के अधिकार मिलने जा रहे हैं या नहीं, जो उनकी एक दीर्घकालिक मांग रही है। कुछ देशों में समुदाय के अधिकारों को मान्यता देने की प्रक्रिया काफी आगे बढ़ी है। मिसाल के तौर पर, बोलीविया, फिलिपीन, कोलंबिया और कनाडा में न्यायालय के निर्णयों, राष्ट्रपतियों के फरमानों और नये कानूनों ने वास्तव में कुछ समुदायों को प्रबंधन के काफी सशक्त अधिकार दिये हैं और साथ में वनभूमियों के उपयोग के अधिकार भी। कुछ मामलों में ये अधिकार इतने पक्के हैं कि वे पूर्ण निजी स्वामित्व का रूप लेते हैं। दूसरी तरफ, रूस में तथा दक्षिण-पूर्व एशिया एवं आफ्रिका के कई देशों में, समुदाय के अधिकारों को मान्यता और सम्मान देने की दिशा में संक्रमण अभी-अभी शुरू हुआ है। और नया कानून पारित करने वाले देशों में आज भी भारी-भरकम विनियम, कानून को लागू नहीं करना और सामुदायिक सम्पत्ति विरोधी नीतिगत पक्षपात बड़े अवरोध बने हुए हैं।

जहां यह सकारात्मक प्रक्रिया उभर रही है, वहां विश्व

अर्थव्यवस्था में परिपक्व राष्ट्र राज्यों का प्रवेश होने एवं अधिक स्थानीय स्तर पर नियंत्रण दिये जाने से, औपनिवेशीकरण खतम करके सामुदायिक सम्पत्ति को सम्मान दिया जा रहा है। अधिकारों की सुपुर्दगी की इस प्रक्रिया में तृणमूल आंदोलनों, गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) और उनके समर्थकों ने संक्रमण में मुख्य भूमिका अदा की है। अक्सर सरकारों के साथ सीधा मुठभेड़ करते हुए ये प्रयास किये गये हैं। राष्ट्र और सही एवं पक्के वन प्रबंधन के समर्थक इस बात को मान्यता दे रहे हैं कि वनों के संरक्षण, सामाजिक न्याय और गरीबी दूर करने के लिए सम्पत्ति के अधिकारों को सुनिश्चित करना एक बुनियादी पूर्वापेक्षा है।

लेकिन भारत में, अभी भी राज्य व्यवहारतः अधिकारों की सुपुर्दगी की यह प्रक्रिया शुरू करने के लिए तैयार नहीं है। इसीलिए, यह अधिनियम वन निवासियों को चिन्हित करने का अंतिम अधिकार ग्राम सभा को नहीं देकर, ग्राम सभा की सक्षमता का सम्मान नहीं करता है। इस अधिनियम में सबसे हास्यास्पद बात यह है कि यह वन निवासियों को जलावन संग्रह, मछली मारने और पथरों, स्लेटों आदि का उपयोग करने का अधिकार नहीं देता है। लगता है कि अधिनियम का मसविदा तैयार करते समय अधिकारियों के दिमागों में सिर्फ वे आदिम समुदाय ही थे जो मकान नहीं बनाते थे और गुफाओं में रहते थे तथा खाना पकाते नहीं बल्कि सिर्फ कंदमूल और फल खाते हैं। वैसे, दुनिया की राय अधिकाधिक एक भिन्न नीति अपना रही है। अभी हाल में भूधृति को सुनिश्चित करना गरीबी दूर करने के संदर्भ में चिंता का एक मुख्य विषय बना है। गरीबी विशेषज्ञ अभी इस बात को मान्यता देते हैं कि दुनिया के गरीब अनुपातहीन रूप में ग्रामीण इलाकों में रहते हैं और अपने गुजारे के लिए वन संसाधनों पर बहुत ज्यादा निर्भर रहते हैं। हाल में किये गये

अध्ययन सूचित करते हैं कि प्रति दिन एक डालर (45 ₹) से कम पर गुजारा करने वाले अत्यधिक गरीब लोगों में से लगभग 80 प्रतिशत लोग अपनी आजीविकाओं के लिए वन संसाधनों पर निर्भर हैं और लगभग उतने ही लोग अपनी जलावन की जरूरतों के लिए वनों पर निर्भर रहते हैं (विश्व बैंक वन कार्यनीति, 30 जुलाई 2001)। साथ ही गरीब लोग वनों की कई पारिस्थितिकी प्रणाली सेवाओं पर, खासकरके जलछाजन सेवाओं और जैवविविधता पर, प्रत्यक्ष रूप से निर्भर रहते हैं।

10 करोड़ से अधिक आदिवासी दुनिया के जंगलों में रहते हैं। आदिवासियों और अन्य समुदायों के अधिकारों को मान्यता दिये बिना – और इन अधिकारों की सुरक्षा बढ़ाये बिना – समुदाय आस्तियों के रूप में अपने संसाधनों का प्रबंध नहीं कर सकते हैं। अपनी आस्तियों का पूर्ण उपयोग किये बिना समुदाय सांस्कृतिक जीवन-शक्ति एवं आर्थिक विकास के अपने लक्ष्यों को हासिल नहीं कर सकते हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि आज दुनिया के कई हिस्सों में वन

संरक्षण समुदाय भी यह मानता है कि वनों की अवनति का कारण उनकी रक्षा करने या प्रबंध करने में स्थानीय आबादियों की दिलचस्पी की कमी नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से वन संसाधनों पर केन्द्रीय नियंत्रण है। लेकिन भारत में, संरक्षणवादी लोग वन निवासियों को वन अधिकार वापस देने का विरोध करते हैं। विश्व स्तर पर, अधिक शक्तिशाली शक्तियों द्वारा वन संसाधनों के दोहन के फलस्वरूप वन क्षेत्रों में रहने वाले समुदायों के असमानताओं और मुठभेड़ों का शिकार होने की संभावना है। भूधृतियों-वनधृतियों की सुरक्षा के बिना, इन समुदायों को सामुदायिक आस्तियों की रक्षा की जिम्मेदारी लेने और जोखिम लेने के लिए कोई प्रोत्साहन या प्रेरणा नहीं मिलती है। भारत के संरक्षणवादी लोग 2003 में विश्व वानिकी कांग्रेस के अंत में प्रतिफलित समझौते को नजरअंदाज करते हैं। कांग्रेस वैश्विक एवं क्षेत्रीय समझौतों के तहत किये गये सिद्धांतों व व्यवहार, रणनीतियों और साधनों के विकास से, खासकरके स्थानीय स्तरों पर स्वामित्व, निर्णय प्रक्रिया और प्रबंधन में समुदायों को शामिल करके, उनकी आजीविका को बढ़ाने की संभावना को बढ़ाते हुए, की गयी विभिन्न गतिविधियों से प्रभावित था। भारतीय संरक्षणवादी इस तथ्य को जानने से इंकार करते हैं कि वनों पर निर्भर समुदाय आज अधिकाधिक विश्व के वनों के महत्वपूर्ण मालिकों और प्रबंधकों के रूप में पुनर्स्थापित किये जा रहे हैं, और इससे काष्ठ उत्पादों की भावी आपूर्ति और जैवविविधता का संरक्षण नाटकीय रूप से प्रभावित हो सकता है।

असुरक्षित वनधृति की समस्या के मुख्य कारण का स्रोत यह तथ्य है कि सरकारें अभी भी सरकारी तौर पर विश्व के वनों के विशाल बहुमत पर अपना दावा कायम रखी हुई हैं। यह औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी काल की विरासत है जब सरकारों ने कानून बनाकर देशी निवासियों से जमीनों को हड़प लिया था और वन विभागों को प्राधिकार सुपुर्द कर दिये थे।

अब चूंकि सामुदायिक अधिकारों और वनधृति सुधार कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने का अवसर बढ़ रहा है, इसलिए सामुदायिक धृति को सशक्त करने के लिए बुनियादी रणनीतियां सुनिश्चित करने की जरूरत है। साथ ही, प्रयोगकर्ताओं, दाताओं, प्रगतिशील सरकारों और खुद समुदायों के लिए इससे सबक लेना और उसको प्रचारित-प्रसारित करना भी जरूरी है। राष्ट्र और पक्का वन प्रबंधन की वकालत करने वाले इस बात को मान रहे हैं कि वनों का संरक्षण, सामाजिक न्याय और गरीबी दूर करने के लिए सम्पत्ति के अधिकारों को सुनिश्चित करना एक बुनियादी जरूरत है। यह बात अधिकाधिक स्पष्ट है कि धृति सुरक्षा हासिल करने के लिए बड़े पैमाने पर कानूनों में सुधार करना जरूरी होगा।

औपनिवेशीकरण का खात्मा करके जनतांतीकरण की प्रक्रिया शुरू करके सामुदायिक स्वामित्व एवं प्रबंधन को मान्य करने में भारत की विफलता निश्चित रूप से दक्षिण एशिया के उपमहादेश के अन्य विकासशील देशों को गलत संकेत देगी।

भारतीय वनों का निजीकरण : अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की भूमिका

पृष्ठभूमि

वर्तमान में भारतीय वनों को खतरा वनों में बसे लोगों के तथाकथित अतिक्रमण से नहीं है, न ही बाघों की घटती संख्या और वन्य जीवों की विलुप्त हो रही प्रजातियों पर मची हाय तौबा से है। बल्कि भारत के वनों और वहां बसे लोगों को सबसे बड़ा खतरा वनों एवं वन संपदा के निजीकरण की नीतियों से है। इतिहास तथा दुनिया के दूसरे हिस्सों, जैसे लातीनी अमेरिका और दक्षिण-पूर्व एशिया में वनों के निजीकरण के अनुभवों से स्पष्ट है कि निजीकरण से न केवल वनों का विनाश होता है बल्कि वन समुदायों की आजीविका भी नष्ट होती है। वनों का निजीकरण वनों एवं वन संपदा से वन समुदायों के अलगाव का पर्याय बन गया है।

सीमित अधिकार, विस्थापन और अलगाव

भारतीय वनों का औपनिवेशिक इतिहास बताता है कि जहां कहीं भी वनों का इस्तेमाल और दोहन उत्पादन के मकसद से किया गया वहां वनों पर आश्रित लोगों के वन संपदा पर अधिकार सीमित कर दिये गए। साथ ही उनके श्रम की भारी लूट हुई। राज्य ही वनों का सर्वेसर्वा बन गया। इस तस्वीर में आजादी के बाद कोई खास बदलाव नहीं आया। इसके विपरीत राज्य ने वनों पर अपनी पकड़ और मजबूत की और वन विभाग सबसे बड़ा जमींदार हो गया। इसका अपवाद केवल उत्तरपूर्वी राज्य रहे जहां

वनों पर अधिकतर समुदायों का ही आधिपत्य रहा। राज्य का नियंत्रण बहुत थोड़े-से वनों पर था।

वन विभाग की दमनकारी शक्तियों में तब और भी वृद्धि हुई जब औपनिवेशिक वन अधिनियम 1927 के बाद वन्यजीव संरक्षण अधिनियम 1972 और वन संरक्षण अधिनियम 1980 लाये गये। इन कानूनों की नज़र में जहां एक ओर वन आश्रित लोग अपराधी और अतिक्रमणकारी हो गए, वहीं दूसरी ओर कानूनों के बावजूद अवैध शिकार का व्यवसाय फलता फूलता रहा और हज़ारों हेक्टेयर वनभूमि विकास परियोजनाओं को हस्तांतरित की गई। इसके अतिरिक्त राज्य पहले से ही वन भूमि को अपने सहयोगियों को सौंपने की प्रक्रिया में था। वनों के संरक्षण के नाम पर खड़े किये गए राष्ट्रीय उद्यानों व अभयारण्यों ने न केवल वनसमुदायों को उनके पुश्तैनी रहवास से बेदखल किया और वनों पर उनके अधिकारों को सीमित किया बल्कि वास्तव में इससे वनों पर होनेवाले भावी निजी निवेश के राह की सभी रुकावटें दूर हो गईं।

जल स्रोतों पर वन समुदायों के परम्परागत अधिकार, जैसे मछली पकड़ना आदि को छीन कर सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को हस्तांतरित कर दिये गए। निजी उद्यमों को राष्ट्रीय उद्यानों के अन्दर होटल बनाने और पर्यटन शिविर स्थापित करने के लिए आमंत्रित किया जाता है जबकि वन आश्रित लोगों को अंदर घुसने तक की मनाही है। संरक्षण के नाम पर बड़े पैमाने पर बेशकीमती वन भूमि थाली में सजाकर निजी क्षेत्र को दी जा रही है। निजीकरण की राह पर पहले ही कदम पड़ चुके हैं।

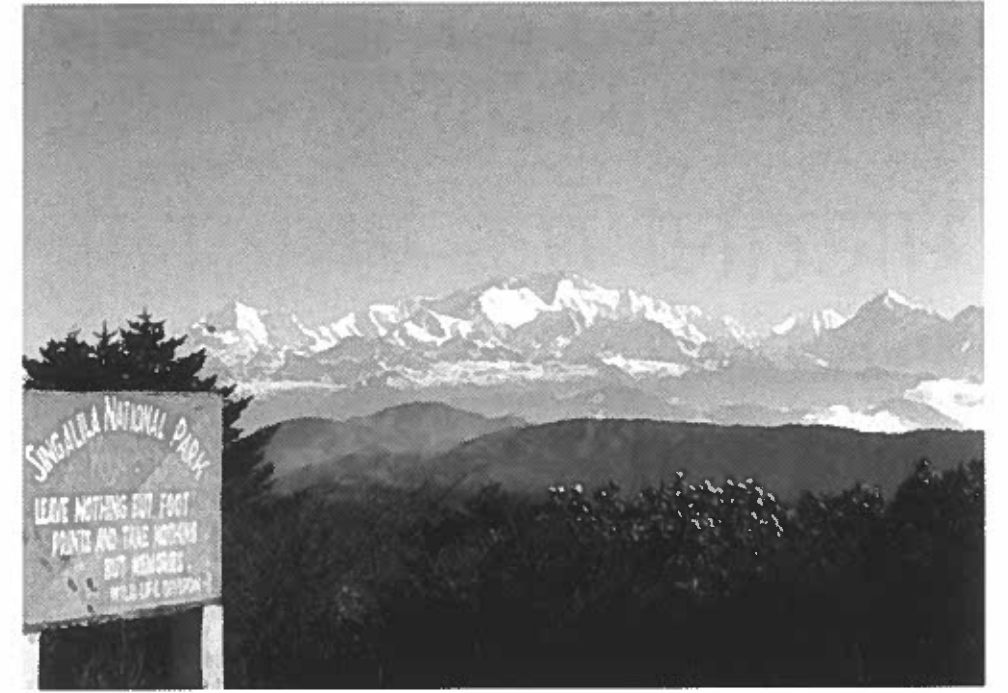
अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों का प्रवेश

लूट में निजी पूंजी की हिस्सेदारी के लिए भूमिका तो राज्य पहले से ही बना चुका था। आर्थिक सुधारों के दौर में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों, विशेषकर, विश्व बैंक और जे.बी. आई.सी. ने सामाजिक वानिकी परियोजनाओं (वन आच्छादित भूमि को बढ़ाने के लिये वृक्षारोपण और विकास परियोजनाओं के द्वारा वनों को हुई क्षतिपूर्ति के लिये) को आर्थिक मदद दी, विश्व बैंक ने ग्लोबल इन्वायर्नमेन्टल फ़ैसिलिटी (जीईएफ) के माध्यम से चुने हुए कुछ राष्ट्रीय उद्यानों में ईको डेवलपमेन्ट प्रोजेक्ट शुरू किये, जिनके चलते बड़े पैमाने पर वन आश्रित समुदायों का विस्थापन हुआ और उनके परम्परागत अधिकारों का हनन हुआ। राष्ट्रीय उद्यानों में लोगों के प्रवेश और वनोपज के इस्तेमाल में भारी कटौती की गई। वन समुदायों को जीविका के ऐसे विकल्प अपनाने के लिए बाध्य किया गया जिनसे वे पूरी तरह अनभिज्ञ थे।

साथ ही साथ संयुक्त वन प्रबन्धन के पहले चरण में विश्व बैंक और वन विभाग ने साठ-गांठ कर वन प्रबन्धन में सामुदायिक सहभागिता के नाम पर लोगों को अधिक लाभकारी आजीविका का लालच दिखाकर बड़े वन भूखण्डों को छोड़ने के लिये राजी कर लिया। इस प्रकार से संयुक्त वन प्रबन्धन परियोजनाओं ने सामुदायिक वन भूमि पर बड़े पैमाने पर अपनी पकड़ बनाई तथा दूसरे चरण में आंध्रप्रदेश और मध्यप्रदेश में निजी क्षेत्र को भागीदार बनाया। इस प्रकार सामुदायिक वनभूमि को निजी क्षेत्र को सौंपा जा रहा है जहां अधिकारों से बेदखल वन आश्रितों को इन्हीं भूखण्डों पर किये जा रहे वृक्षारोपण में मजदूर के रूप में खपाया जा रहा है।

दावेदारों की साझेदारी : नया खतरा

विश्व बैंक, भारतीय उद्योगों के महासंघ और पर्यावरण और वन मंत्रालय की त्रिमूर्ति द्वारा विकसित और लागू की गई दावेदारों की साझेदारी (एम एस पी) की अवधारणा के तहत सरकार क्षतिग्रस्त वन भूमि को तीस साल के पट्टे पर बड़े पैमाने पर औद्योगिक वृक्षारोपण के लिये निजी निवेशकर्ताओं को देगी। वन विभाग, समुदायों और निजी क्षेत्र के बीच की यह त्रिपक्षीय भागीदारी भारतीय पेपर और लुगदी उद्योग को वन समुदायों की



संदकफू और कंचनजंघा। तस्वीर : सौमित्र घोष

कीमत पर लाभान्वित करेगी। लगभग 3 करोड़ हेक्टेयर वन भूमि निजी निवेशकों को सौंपी जाएगी।

कार्बन वित्त प्रणाली

क्योटो प्रोटोकॉल के तहत कार्बन क्रेडिट खरीदने और कार्बन सोखता वन लगाने के लिये वानिकी क्षेत्र में निजी निवेश वनों एवं वन संपदा के निजीकरण का एक अन्य स्रोत है। यद्यपि मौजूदा समय में कार्बन वित्त के लिये निवेश की संभावनाएं कम हैं, विश्व बैंक ने भारतीय वनों की डिनोटिफिकेशन हेतु संस्तुति की है ताकि कार्बन वानिकी में निवेश सुविधाजनक हो सके। ऐसा उत्तरपूर्व के वनों के संबंध में किया गया है।

निजीकरण के विरुद्ध रणनीति

भारत में राज्य नियंत्रित वनों की प्रवृत्ति ही निजी हाथों में जाने की ओर है क्योंकि ये राज्य की आर्थिक इच्छा शक्ति और नीति पर निर्भर हैं। इसी प्रकार वन भूमि की व्यक्तिगत मिलकियत में भी निजीकरण का खतरा बना रहेगा और लोगों के वनभूमि से अलगाव का भय रहेगा। वन समुदायों को वनों के बाज़ारीकरण, निगमीकरण एवं निजीकरण के खतरे से लड़ने के लिये कारगर रणनीति बनानी होगी। वनों पर सामुदायिक आधिपत्य एक संभावित रणनीति हो सकती है जिसमें वनों के स्वामित्व और शासन का अधिकार समुदाय में निहित होता है और समुदाय का निर्णय अंतिम होगा।

बाज़ारीकरण से जंगल को मुक्त करो

सामुदायिक वन पालन को लागू करो

दस्तावेज : राष्ट्रीय वन जन-श्रमजीवी मंच

वैश्विक पर्यावरणीय राजनीति : भारतीय वन समुदायों पर प्रभाव

संदर्भ

दूसरे औद्योगिक पूंजीवादी देशों से भिन्न, भारत ने ऋण आधारित औद्योगिकरण की राह अपनायी जिसकी परिणति अधिकांशतः पूंजी आधारित विकास में हुई। इसी के चलते भारतीय सरकारों को देश में औद्योगिक एवं वित्तीय ढांचागत विकास के लिये विदेशी पूंजी पर निर्भर रहना पड़ा। अत्यधिक पूंजी आधारित विकास के पश्चिमी माडल को आंख मूंद कर अपनाया गया। चाहे आयात घटाने की बात हो या फिर निर्यात को बढ़ाने की नीतियां हों, विदेशी पूंजी पर हमारी निर्भरता ज्यों की त्यों बनी रही।

भारतीय राज्य और उसकी आर्थिक नीतियों पर पश्चिमी देशों, खासकर अमरीका, का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। वैश्विक पूंजीवाद का नया अवतार देश के जल, जंगल, ज़मीन व खनिज सम्पदा सहित तमाम प्राकृतिक संसाधनों पर पूर्ण आधिपत्य जमाने के लिये विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं का सहारा लेता है। ढांचागत समायोजन कार्यक्रम की आड़ में भारत की अर्थव्यवस्था को इन संस्थानों ने अपने उद्देश्यों के अनुरूप ढालना शुरू किया। इसी वजह से भारत को विश्व व्यापार संगठन की भेदभावपूर्ण संधि को भी स्वीकारना पड़ा।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और विश्व के सात सबसे धनी देश भारत जैसे जैवविविधता समृद्ध देशों को विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्था के अंतर्गत बौद्धिक सम्पदा अधिकारों, कठोर पेटेंट कानूनों और अन्य कानूनी प्रावधानों के ज़रिये लूटने की कोशिश कर रहे हैं तथा प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर लोगों के संसाधन-आधारित परम्परागत अधिकारों को हड़प रहे हैं। वैश्विक विकास के नये प्रतीकों ने इस निर्बाध लूट को वैधता प्रदान की है। अब राज्य देश में रक्षा संस्थानों, बड़े बांधों, बिजली घरों, राष्ट्रीय मार्गों और औद्योगिक व कृषि क्षेत्रों में विकास सहित तमाम परियोजनाओं में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और वित्तीय संस्थानों के हस्तक्षेप को खुल्लमखुल्ला न्यौता दे रहा है।

चूंकि भौगोलिक दृष्टि से पृथक, देश के आदिवासी इलाकों में दुनिया के कुछ सबसे जैवविविधता समृद्ध क्षेत्र आते हैं अतः बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की कच्चे माल की लगातार बढ़ती हुई जरूरतों की यह मांग है कि ये क्षेत्र व्यावसायिक दोहन के लिये

मुक्त और अछूते रखे जायें। यह शोषण अनेकों रूपों में हो रहा है। औषधीय पौधों जैसे आनुवांशिक तत्वों में व्यापार, जल विद्युत उत्पादन, खनिज व पर्यटन उद्योग, बड़े पैमाने पर कृषि वानिकी तथा वनों की कटाई आदि।

विश्व के वायुमंडल का व्यापार

राज्य की संरक्षणवादी नीतियों में मौजूदा पर्यावरण राजनीति की झलक दिखाई देती है। हाल ही में अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों से हुए क्योटो प्रोटोकॉल और ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में समयबद्ध कटौती की प्रतिबद्धता ने आशाएँ जगायीं थीं। दुनिया भर में लोगों को यह लगा कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय – विशेषकर विकसित देश जो पिछले सौ वर्षों से ग्रीन हाउस गैसों के 60 फीसदी उत्सर्जन के लिये जिम्मेदार हैं – अब कार्बन उत्सर्जन को घटाने के लिये कुछ करेंगे। किन्तु क्योटो प्रोटोकॉल के बाद की स्थितियाँ स्तब्ध करने वाली रहीं, क्योंकि अपने देशों में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कटौती करने के बजाय, क्योटो प्रोटोकॉल ने ही इन धनी देशों और उनकी ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के लिये जिम्मेदार कम्पनियों को दुनिया की जलवायु में एक मूर्खतापूर्ण व्यापार करने की छूट दी। यह व्यापार वायुमंडल से कार्बन सोखने की क्षमता के सम्बन्ध में है। इस व्यापार में विकासशील देशों की कम्पनियों में सक्षम साझेदार खोजे गये, बावजूद इस तथ्य के कि विकासशील में देशों ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन तो नगण्य है; किन्तु इस के चलते हो रहे जलवायु परिवर्तन का ज्यादा खामियाजा उन्हें ही भुगतना पड़ रहा है।

जबकि भारत ने उत्सर्जन में कटौती से लगातार इनकार किया है, फिर भी उसे वैश्विक स्वच्छ विकास प्रक्रिया (ग्लोबल क्लीन डेवेलपमेंट मेकेनिज्म— सी.डी.एम.) के लिये सबसे उपयुक्त देश के रूप में देखा जा रहा है। भारत में आज स्वच्छ विकास प्रक्रिया की 450 परियोजनायें चल रही हैं जो कि दुनिया के किसी भी देश से अधिक हैं। भारत में स्वच्छ विकास प्रक्रिया परियोजनायें अन्य किसी निवेश की तुलना में अधिक मुनाफे का सौदा हैं जिसमें दलालों, सरकारों, ठेकेदारों और सलाहकारों की चांदी है।

स्वच्छ विकास प्रक्रिया और कार्बन व्यापार के सभी रूप दोनों गोलाधों के प्रदूषकों और ग्रीन हाउस गैस के उत्सर्जकों के लिये

शुद्ध मुनाफे का सौदा है। प्रदूषण फैलाने वाले उद्योग वायुमंडल में लगातार ज़हरीली राख व कार्बन धूल उत्सर्जित कर रहे हैं जिसके चलते नदियाँ एवं अन्य भूगर्भीय जल स्रोत प्रदूषित हो रहे हैं; फिर भी ये उद्योग स्वच्छ विकास प्रक्रिया की परियोजनाओं के ज़रिये पैसा कमा रहे हैं। सरकारें, यूएनएफसीसी, स्वयंसेवी संस्थायें और विश्व बैंक व एशियाई विकास बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान इस ओर से आंख मूंदे हुए हैं। भारत में व अन्य देशों में (ब्राज़ील, चिली, थाईलैंड व अन्य तमाम देश) लोग देखते हैं कि उनकी ज़मीनें ले ली गईं और बड़ी तथा टिकाऊ परियोजनाओं के हित में नष्ट कर दी गयीं। बड़े व छोटे बांधों (उतरांचल, भारत और दक्षिण अफ्रीका), नई कार्बन अवशोषक परियोजनायें (भारत, ब्राज़ील, यूगांडा), प्रदूषण रहित पवनचक्कियां (महाराष्ट्र, सतारा) जैसी तथाकथित परियोजनाओं द्वारा तरल व गैसीय कचरा के उत्सर्जन के कारण उनकी धरती, नदियों और हवा में ज़हर घोला जा रहा है।

लोगों के रोज़मर्रा जीवन और समझ के परे वायुमंडल का यह खेल जारी है। ग्लेशियर और ध्रुवों की बर्फ लगातार पिघल रही है, अचानक आयी बाढ़ से गांव के गांव बह रहे हैं, लम्बे लम्बे अकाल व तापमान में अतियों के कारण खेती का विनाश हो रहा है और चक्रवात के कारण अनेकों मछुआरों के गांव के गांव बह गए हैं। जलवायु परिवर्तन के वास्तविक और स्पष्ट दिखने वाले खतरों से पर्यावरण की मूर्खतापूर्ण दुकानदारी के ज़रिये निपटने का भ्रम पैदा किया जा रहा है जो मानव सभ्यता के इतिहास में अनोखा है।

संरक्षण और व्यापार : नया पैकेज

यह ध्यान देने की बात है कि जब तक भारत में वानिकी क्षेत्र राज्य के नियंत्रण में रहेगा तब तक सी.डी.एम परियोजनाएं देश के विभिन्न भागों में चल रही संयुक्त वन प्रबंधन, सामुदायिक वन प्रबंधन, इकोडेवेलपमेंट जैसी परियोजनाओं की तरह समुदाय समर्थक और स्वावलम्बी अवधारणा के रूप में लाई जाएंगी। यहां पर विश्व बैंक की मुख्य भूमिका भविष्य में होने वाले निजी क्षेत्र निवेश में आने वाली कानूनी व अन्य बाधाओं को दूर करने की होगी। भारत में भारतीय उपमहाद्वीप के विशेष रूप से हिमालयी क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों द्वारा प्रायोजित जैव विविधता संरक्षण परियोजनाएं (वन्य जीव व जैव विविधता) देशों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू की जाएंगी। ऐसा इसलिये है कि अब ये परियोजनाएं किसी एक देश की सीमा तक सीमित न रहकर कई देशों में लागू होंगी। बैंक का मानना है कि इन क्षेत्रों की प्राकृतिक वन सम्पदा विश्व की सामूहिक विरासत है। ये परियोजनाएं सी.पी.ई.एफ. (विश्व बैंक और मैकार्थर फाउंडेशन इसके सदस्य हैं) या यू.एस. ऐड और मैकार्थर फाउंडेशन जैसे सहायता संघों द्वारा समर्थित हैं।

कुछ मामलों में ये परियोजनाएं यू.एन.डी.पी के फण्ड से भी चलाई जा रही हैं। इन सब परियोजनाओं का दिलचस्प पहलू यह है कि ये सभी परियोजनाएं आरंभिक चरण से ही इकोसिस्टम और स्थानीय संरक्षित क्षेत्र के आर्थिक महत्व का आकलन करती हैं।

इकोसिस्टम सेवाएं

विश्व बैंक की वन नीति वनों को विश्व के धरोहर के रूप में घोषित करती है तथा राज्य और निजी क्षेत्र के बीच रणनीतिक साझेदारी के ज़रिये इकोसिस्टम सेवाओं को बाज़ार उपलब्ध कराने पर जोर देती है। "इकोसिस्टम सेवाएं" एक नयी अवधारणा है जिसके तहत किसी भी प्राकृतिक इकोसिस्टम की समस्त सेवाएं शामिल हैं जैसे कि कार्बन सोखने की क्षमता, उसका प्राकृतिक सौन्दर्य आदि। इन सेवाओं को विश्व बाज़ार में बेचे जा सकने की कल्पना शामिल है। इसका मतलब साफ है कि वन अब पूरी तरह से बाज़ार की वस्तु बन गए हैं। यद्यपि विश्व बैंक की इस नई अवधारणा में सामुदायिक लाभ और सामुदायिक हितों की सुरक्षा की बात तो कही जा रही है पर वहीं साथ ही देशों के कानून और नीतियों को इस तरह से बदलवाया जा रहा है कि उससे आने वाले समय में मूलनिवासी समुदायों की आजीविका के आधार को अपूरणीय क्षति हो सकती है। यह सब सी.बी.डी. (जैव विविधता संधि) जैसे जन पक्षीय समझौतों के बावजूद हो रहा है क्योंकि विश्व व्यापार संगठन का बौद्धिक सम्पदा पर हुआ समझौता सी. बी.डी से होने वाले लाभों को पूरी तरह से खारिज कर देता है। व्यावसायिक हितों को प्राथमिकता देने के लिये सामुदायिक हितों की किसी भी समय बलि चढ़ाई जा सकती है।

इस तरह वैश्विक पर्यावरणीय राजनीति का अर्थ है ग़रीब देशों के प्रकृति पर निर्भर लोगों की कीमत पर धनी देशों द्वारा व्यापार और अंधाधुंध मुनाफा कमाना। इस ग्रीन हाउस गैसों व वायुमंडल के तापमान में वृद्धि और कार्बन व्यापार के धिनौने शतरंज के खेल में ग़रीब लोगों को ऐसा मोहरा बना दिया गया है कि उनका जब चाहे जिस भी तरह से इस्तेमाल करें। इस राजनैतिक खेल के चलते भारत में भी वन समुदायों पर राज्य के अत्याचार बढ़े हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के शाब्दिक अर्थ एवं भावना का सीधा उल्लंघन करते हुए राज्य की संरक्षणवादी नीतियों ने वन संसाधनों पर उनके अधिकारों को सीमित कर, उनको उनकी ज़मीनों से बेदखल कर, वन समुदायों को जीवन और आजीविका जैसे अधिकारों से वंचित किया है। वन श्रमजीवियों की फर्जी आधार पर गिरफ्तारी और उत्पीड़न की घटनाओं की ख़बरें देश के कोने-कोने से रोज़ाना मिल रही हैं। संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूची के प्रावधानों को धता बताते हुए राज्य अनुसूचित क्षेत्रों में भी वनों का नियंत्रण अपने हाथों में रखा हुआ है।

दस्तावेज : राष्ट्रीय वन जन-श्रमजीवी मंच

प्रदूषण का व्यापार

जब 1997 में ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन घटाने के लिए प्रथम अंतर्राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे तब चतुर्दिक दुनिया के लोगों ने सोचा था कि अब दुनिया के राष्ट्र अपने-अपने ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को घटाने की बात को गंभीरता से लेंगे। लेकिन हमारे लिए यह एक दुःखद आश्चर्य की बात हुई कि उक्त समझौता धनी देशों और उनकी प्रदूषणकारी कंपनियों के लिए दुनिया की कार्बन-अवचूषण क्षमता का अव्यावहारिक और बेतुका व्यापार शुरू करने का एक 'पर्यावरणीय' बहाना बन गया है। उन्होंने विकासशील देशों के नव-धनाढ्यों में वैसे काबिल साझीदार खोज निकाले जिनको इसमें व्यवसाय का एक अवसर दिखाई पड़ा और वे इस नये धंधे में कूद पड़े। अंतर्राष्ट्रीय उत्सर्जन घटाने की किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी लेने से लगातार इनकार करते रहने के बावजूद, भारत कार्बन बाजार का एक सर्वाधिक पसंदीदा केन्द्र बन गया है। एक दोस्ताना और मुस्तैद सरकार, एक 'स्वच्छ' और आक्रामक निगम क्षेत्र और राष्ट्रीय एवं पार-राष्ट्रीय 'समर्थकों', परामर्शदाताओं और परियोजना विकासकर्ताओं की एक अलमस्त टोली के साथ भारत कार्बन 'प्रति संतुलनकारी' परियोजनाओं के लिए एक स्वर्ग बना हुआ है। विकसित देशों को अतिरिक्त जीवाश्म ईंधन जलाकर कार्बन डाइऑक्साइड और मोनोक्साइड वातावरण में फैलाने का मौका देने वाले क्योटो कार्बन बाजार में क्रेडिट्स बेचने के लिए भारत में 450 परियोजनाओं की लाइन लग गयी है और इस तरह भारत ने किसी भी निवेशक, दलाल, समर्थक, विकासकर्ता या कार्बन परामर्शदाता के लिए कल्पनातीत छप्परफाड़ मुनाफों के लिए दरवाजे खोल दिये हैं।

तमाम बड़ी भारतीय कंपनियाँ— रिलायन्स, टाटा, बिरला, अंबुजा, आइटीसी— एकदम खुलकर इस धंधे में उतर गयी हैं। पहले लोगों को आशंका थी कि क्योटो कार्बन बाजार की जटिल प्रक्रिया के चलते बड़ी कंपनियाँ इससे दूर ही रहेंगी, पर अब उनके उतर पड़ने से ऐसी सब आशंकाएं दूर हो गयी हैं। कार्बन क्रेडिटों से कंपनियों के शेयरों के मूल्यों में काफी बढ़त दिखाई दी है। जहां कार्बन क्रेडिट की बिक्रियां सार्वजनिक रूप से दर्ज नहीं की गयीं और क्रेता बिलकुल अनिश्चित हैं, वहां भी ऐसी बढ़त दिखी है। कई कंपनियों ने अपने पब्लिक इश्यू प्रोस्पेक्टस में कार्बन 'प्रतिसंतुलन' परियोजनाओं को शामिल किया ताकि कंपनी की लाभप्रदता प्रमाणित हो, हालांकि इश्यू के समय उन परियोजनाओं से वास्तव में कंपनी की आय दर में खास किसी

योगदान की अपेक्षा नहीं थी।

चूंकि आम तौर पर भारत में यह माना जाता है कि कार्बन 'प्रतिसंतुलनकारी' परियोजनाएं 'पर्यावरण के लिए इतने हितकर' हैं कि उनके लिए पर्यावरण पर प्रभाव के आकलन या प्रबंधन के लिए कोई योजना जरूरी नहीं है; इसलिए सार्वजनिक रूप से इन परियोजनाओं पर विरले ही कोई जानकारी उपलब्ध रहती है। जब भी हमने इन परियोजनाओं के सामाजिक और पर्यावरणीय-या मौसम संबंधी- फायदों के बारे में परियोजनाकारों के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये गये दावों का गहराई से अध्ययन किया है, हमने दावों और जमीनी वास्तविकता में एक स्पष्ट भिन्नता देखी है।

हम व्यापार पर आपत्ति नहीं करते हैं। लेकिन यह व्यापार किसकी कीमत पर? कैसे भारत सरकार एक 'स्वच्छ विकास तंत्र' में स्थायी प्रदूषकों से व्यापार के प्रस्ताव स्वीकार कर सकती हैं? कैसे यह बात सुनिश्चित की जा सकती है कि परियोजना का प्रस्तावकर्ता सचमुच समाज और पर्यावरण के हित में सोच रहा है या हित करने में सक्षम है जबकि उसका कारखाना खुद वर्तमान कानूनों का लगातार उल्लंघन कर रहा है? कैसे किसी परियोजना को 'स्वच्छ विकास' माना जा सकता है जबकि वह पारिस्थितिकी और समुदायों के आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है? कैसे परियोजनाएँ जाहिरा अपूर्ण और झूठे परियोजना दस्तावेजों के आधार पर निबंधित की जा सकती हैं?

कार्बन 'प्रतिसंतुलन' बाजार पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में प्रदूषकों एवं ग्रीन हाउस गैस-उत्सर्जकों, दोनों पक्षों के लिए, फायदे की चीज साबित हो रहा है। प्रदूषक उद्योग जहरीली राख और कार्बन धूल (भारत में स्पांज आयरन कारखाने) वातावरण में फैलाना और अपने बहिःस्रावों से नदियों एवं भूजल (आईटीसी, भारत) को प्रदूषित करना जारी रखे हुए हैं और साथ ही वे स्थायित्व के झूठे दावों और बहिःस्रावों को घटाने के एवज में अतिरिक्त धन भी कमा रहे हैं। परियोजना-विकासकर्ता, परामर्शदाता और औचित्य का प्रमाण-पत्र देने वाली संस्थाएं मोटी-मोटी फीजें कमाते हैं और शायद कार्बन क्रेडिट से प्राप्त राजस्व से कमीशन भी। इसके अलावा दलालों को भी अच्छा-खासा कमीशन मिलता है और विकसित देशों में खरीददारों को प्रदूषण फैलाने के लिए लाइसेंस मिलता है और सरकारें मौसम परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क कन्वेंशन जैसे अंतर-सरकारी मंचों और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की देखरेख में मजे में यह प्रक्रिया चल रही है और इधर विश्व



स्पांज आयरन कारखाना। तस्वीर : बिजु टोपो

कार्बन बाजार 100 करोड़ डॉलर का हो गया है।

जिस कार्बन व्यापार से जनता के लाभान्वित होने की बात कही जा रही है, वास्तव में उसका लोगों की जिंदगियों पर क्या असर होता है? भारत, ब्राजील, युगांडा, दक्षिण अफ्रीका, चिली, थाईलैंड एवं अन्य देशों में लोग देख रहे हैं कि बड़ी और छोटी बांधों के लिए उनकी जमीनें ले ली गयी हैं, नये एकल वृक्षरोपण किये जा रहे हैं और दूसरी तरफ 'स्वच्छ और हरे' कारखानों से निकलने वाली द्रवीय एवं गैसीय गंदगी से मिट्टी, नदियाँ और हवा लगातार अधिकाधिक प्रदूषित होती चली जा रही हैं।

स्थानीय लोगों की दैनंदिन जिंदगियों और जानकारी की सीमाओं के बाहर मौसम-संबंधी ये खेल बेसलाइनों, यथावत् व्यवसाय चलने की भविष्यवाणियों और कार्बन क्रेडिट Vintages के साथ खेले जा रहे हैं। इस बीच में ग्लेशियर और ध्रुवों पर स्थित बर्फ का भंडार लगातार पिघलता जा रहा है, बाढ़ों से गाँव

के गाँव मिट रहे हैं, लंबे समय तक जारी सूखों और भीषण ठंड व भीषण गर्मी के असर से खेती तबाह हो रही है, और तूफानों से मछुवारों के गाँवों के नामोनिशान मिट रहे हैं। मौसम परिवर्तन के इस वास्तविक आँखों के सामने स्पष्ट मंडराते खतरे का सामना अत्यधिक बेतुके एवं असंभव बाजार से करने का भ्रम पाला जा रहा है और यह बाजार दक्षिणी देशों के लिए बुरा है, उत्तरी देशों के लिए बुरा है और मौसम के लिए बुरा है।

(सौमित्र घोष, हदीदा यास्मिन, अरिंदम दास तथा अन्य लोगों द्वारा भारत में CDM परियोजनाओं पर बनायी गयी रिपोर्ट का संक्षेपण। सौमित्र और उनके साथी लेखक कार्यकर्ता हैं और वे उत्तर बंगाल में अवस्थित NESPON नामक एक एनजीओ और जन आंदोलन के एक राष्ट्रीय गठबंधन NFFPFW के साथ मिलकर इस विषय पर अनुसंधान कर रहे हैं।)

दस्तावेज : राष्ट्रीय वन जन-श्रमजीवी मंच

जंगल महल में जंगल के अधिकार : किसके अधिकार, कहां और कौन से

सौमित्र घोष

19 वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में आज के झारखण्ड के बड़े हिस्से और पश्चिमी बंगाल के दक्षिणी हिस्से में व्याप्त जंगल महल में 2 प्रकार के अधिकार साथ-साथ रहते थे। पहले प्रकार के अधिकार अधिकतर आदिवासियों के परम्परागत अधिकार थे और साथ ही वैसे बाहर से आकर बसे आप्रवासी भी इन अधिकारों का उपभोग करते थे जिनको भुधृतियां दी गयी थीं। बाद के औपनिवेशिक कानूनों और न्यायिक प्रक्रियाओं द्वारा इन परंपरागत अधिकारों (आंशिक रूप से दर्ज अधिकार भी) को मान्यता दी गयी थी। इस बात से यह प्रमाणित होता है कि अधिकार धारकों को अपने अधिकारों के स्वरूप और मात्रा के बारे में स्पष्ट और निश्चित बोध था। यह बिल्कुल संभव था कि यह बोध स्वयं स्थायी बन्दोबस्ती का परिणाम था और जब विशाल आम जंगलों को निजी सम्पत्ति में बदल दिया गया तब पारम्परिक उपभोग "अधिकार" बन गया, और नये मालिकों ने ऐसे उपभोग को प्रतिबंधित और निषिद्ध करने की कोशिश की।

दूसरे प्रकार के अधिकारों में अधिक विविध और जटिल किस्म के अधिकार शामिल थे जिनमें दोनों, दर्ज किये गये और नहीं दर्ज किये गये अधिकार शामिल थे और ये अधिकार बन्दोबस्ती किये गये किसी वनक्षेत्र में रहनेवाले सभी लोगों के सामूहिक अधिकार थे। इनमें से कई अधिकार किसी "खास भूधृति" से सम्बन्धित थे, यानी ये अधिकार रिवाजी तौर पर किसी खास किस्म की भूधृति से सम्बद्ध या सीमित थे। उदाहरणतः अइमादार, खुदकाशत/खुंटकट्टी रैयतों और किसी मान्यता प्राप्त काश्तकार या जंगलबरी भूमियों के दखलकार को उस भूमि पर पेड़ काटने का अधिकार था, भले ही दखलकार के अलावा उस भूमि का अन्य कोई कानूनी मालिक भी रहा हो।

जहाँ दूसरे प्रकार के कई अधिकारों में पहले से माने गए परम्परागत अधिकार भी शामिल थे और इससे कुछ क्षेत्रों में परंपरागत अधिकारों को दर्ज करने और कानूनी मान्यता देने में मदद होती थी, लेकिन दूसरी तरफ पहले किस्म के अधिकार वास्तव में कभी भी कानूनी मंजूरी पर निर्भर नहीं थे और ये

अधिकार मौजूदा कानूनों और प्रक्रियाओं को अमान्य करते हुए उपभोग किये जाते रहे। शायद इसका एक कारण औपनिवेशिक न्यायिक प्रणाली का एकान्तिक स्वरूप था। यह प्रणाली हमेशा शक्तिशालियों का पक्ष लेनेवाला लगता था और परंपरा के एक अभिजात्य और सामाजिक रूप द्वारा इसकी एक उल्टी व्याख्या को संभव बनाता था।

जंगल महल की सीमान्त भूमियों में भी ऐसा होता था। सिर्फ धनी लोग कानून का सहारा ले पाते थे, वकील रख सकते थे और जमीन के मुकदमे लड़ सकते थे, जो लम्बे समय तक चलते रहते थे। मुण्डा, संधाल, भूमिज, सबर, लोधा और कुर्मी (महतो) जैसे वनों का परम्परागत रूप से उपयोग करने वाले विभिन्न वनजनों में न्यायालय में मुकदमा करने की शायद ही कभी कोई क्षमता थी, इसके बावजूद कि उनके अधिकारों का उल्लंघन होता था या सीधे उनको अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था। इसलिए कानून द्वारा प्रदत्त अधिकार विरले ही कभी वनजनों के अधिकार बन पाये। इसके बदले वनजन अपने जिन अधिकारों को मानते थे उनका अक्सर जबरदस्ती प्रयोग करते थे, चाहे वे कानूनन हों या नहीं। जंगल महल में वनजनों की यादों में बैठे हुए ऐसे "अनुभूत" अधिकारों का बोध उनको जमीन्दारों, धृतिधारकों और अंग्रेजों के खिलाफ जनसंघर्ष करने के लिए प्रेरित करता था।

लेकिन जंगल महल में वन अधिकार स्थान विशेष से सम्बद्ध थे और लगता था कि अधिकारों का स्वरूप और मात्रा अलग-अलग एस्टेट और स्थान में अलग-अलग थी। जहाँ कुछ जंगलों का प्रबंधन सरकारी से किया जाता था और सभी प्रकार के अधिकारों से लोगों को वंचित किया जाता था, चारागाह के अधिकार भी नहीं दिये जाते थे, लेकिन दूसरी तरफ कुछ जंगलों में एस्टेट खतियानों में कई अधिकार "दर्ज" थे।

रैयतों के अलावा शिकमियों और बटाईदारों को जंगलों पर अधिकार होते थे और इनमें अधिकतर परम्परागत रूप से गुजारा के लिए जंगलों का उपभोग करने वाले और विभिन्न 'बिचौलियों' शामिल थे। कानून इस बारे में स्पष्ट नहीं था कि-



लोहरा महिलाएं। तस्वीर : संजय बसु मल्लिक

बिचौलियों को वनों के न्यायसंगत दावेदार माना जाये या नहीं। इनमें अक्सर जमीन्दार या पटनीदार, एकाधिक धृतिधारक, पट्टाधारक और रैयत शामिल थे, और सम्बद्ध जमीनों पर अक्सर मुकदमे होते थे। ऐसे कई मामले दर्ज थे जिनमें स्थानीय मंडलों और मूल जमीन्दारों के खिलाफ वैसे भूस्वामियों ने वन अधिकारों के उल्लंघन के मुकदमे किये जिन्होंने जमीन्दारों द्वारा ऋण नहीं चुकाये जाने के चलते जमीन्दारी के कुछ वनों पर दखल कर लिया था।

20वीं सदी के प्रारंभ में एक मामले में वादी ने दावा किया कि प्रतिवादियों को उसके इलाकों में वनों और वनोत्पादों पर अब कोई अधिकार नहीं है। स्थानीय न्यायाधीश ने फैसला दिया कि वनक्षेत्रों में स्थायी बन्दोबस्ती वाली मंडली भुधृति में जंगल भी शामिल होंगे, और मंडल को उन जंगलों पर पूरे अधिकार होंगे, भले ही एस्टेट के स्वामित्व में कोई भी बदलाव

हुए हो। यह मामला फिर कलकत्ता उच्च न्यायालय में गया और चूंकि मंडल के पट्टे में वन या जंगलों से संबंधित कोई निर्दिष्ट उल्लेख नहीं था इसीलिए निचले न्यायालय के निर्णय को उलट दिया गया।

लगभग उसी समय एक और मामले में स्थानीय रैयतों ने न्यायालय में एक जमीन्दारी कम्पनी द्वारा पशुओं को चराने पर पाबंदी लगाने के प्रयास को चुनौती दी। स्थानीय न्यायालय ने रैयतों के पक्ष में निर्णय दिया और चारागाहों पर उनके परम्परागत दावों को स्वीकार किया, लेकिन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इस आधार पर जमीन्दारों का पक्ष लिया कि एस्टेट से लगी सभी बंजर भूमियाँ जमीन्दार की होंगी। इस मामले को जब लंदन में प्रिवी काउन्सिल में ले जाया गया तब उच्च न्यायालय के निर्णय को उलट दिया गया और कम्पनी से यथोचित चारागाह मुहैया करने के लिए कहा गया क्योंकि 'वादियों' और

उनके 'पूर्वजों' को जमीन पर चारागाह के परम्परागत अधिकार हैं और 'अनादिकाल' से वे ऐसे अधिकारों का उपभोग करते आ रहे हैं।

ऊपर बताये गये मामलों में विभिन्न प्रकार के अधिकारों से संबंधित मामले शामिल हैं। पहला जंगलों पर जोतमंडली अधिकार (यहां मंडल का अधिकार) था। यह अधिकार निश्चित रूप से दूसरे किस्म का अधिकार था जो स्थायी बन्दोबस्ती की प्रक्रिया में की गयी भूधृति व्यवस्था की कानूनी व्याख्या पर निर्भर था।

दूसरा परंपरागत अधिकार था जो अनादिकाल से मौजूद था और इस परंपरा को उचित कानूनी मान्यता दी जा रही थी। हालांकि ऐसे मामले (और अनेकों ऐसे अन्य मामले) कोई आम नजीर नहीं बने थे, और जमीन्दार अपने निरंकुश तौर-तरीके जारी रखे रहे, फिर भी लोग यह साबित करने में सफल रहे कि जंगल महल के जंगलों में अधिकार मौजूद हैं (हालांकि वे शायद ही कभी सुपरिभाषित थे और अत्यंत स्थानीय थे, फिर भी अधिकार मौजूद थे), और यह सिर्फ आम जनता की समझ की बात ही नहीं थी। 1938 आते-आते बंगाल टेनेन्सी अधिनियम पारित होने के पूरे 10 साल बाद और संधालों, कुर्मियों तथा अन्य वनजनों के एक और आदिवासी संघर्ष द्वारा जंगल महल को झकझोर दिये जाने के बाद वनक्षेत्रों में सभी प्रकार के अधिकार वनविभाग के लिए (जो आगे चलकर वनों का स्वामी बन गया) एक मूर्त समस्या बनने लगे।

अधिकारों की बन्दोबस्ती : औपनिवेशिक पद्धति

सभी औपनिवेशिक भू-अधिनियमों एवं वन अधिनियमों में बन्दोबस्ती की बात कही गयी है। यह एक ऐसा सर्वव्यापी शब्द है जो जमीन से संबंधित तमाम कार्यवाहियों- नक्शा बनाना, सीमांकन, मालगुजारी का आकलन, मालगुजारी का निर्धारण और अन्त में अधिकारों को दर्ज करना- को निर्दिष्ट करता है। खास भूखण्ड कोई किसी व्यक्ति के नाम बन्दोबस्त करने के साथ-साथ उस भूखण्ड के सिलसिले में उस व्यक्ति के अधिकारों के स्वरूप और मात्रा भी परिभाषित और निर्धारित हो जाती है। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 1790 के दशक में स्थायी बन्दोबस्ती की प्रक्रिया शुरू की तब उसने यथासम्भव शीघ्र एक स्थिर राजस्व व्यवस्था कायम करने की हड़बड़ी में, और आंशिक रूप से सिर्फ बेहूदगी के चलते, जमीन जोतने वाले रैयतों के पुश्तैनी अधिकारों के प्रश्न की उपेक्षा कर दी और बन्दोबस्ती में सिर्फ जमीन्दारों को एक नये प्रकार के सम्पत्ति के अधिकार प्रदान किये।

बाद में चलकर जब यह देखा गया इस व्यवस्था से मूल-अधिकार धारक को टीनेंट्स-एट-विल 123 में बदल

दिया गया। तब सरकार ने रैयतों को एक प्रकार की भूधृति-सुरक्षा देने के लिए एक नयी बन्दोबस्ती प्रक्रिया शुरू की। 19वीं सदी के इंग्लैण्ड के सुधारवादी विचारकों और राजनीतिज्ञों द्वारा कमोबेश लगातार चलाये गये अभियान के बावजूद इन बंदोबस्तियों से असहाय रैयतों के लिए वास्तविक सुरक्षा बढ़ायी नहीं जा सकी, और शायद ही कभी उन रैयतों ने "कानूनन बन्दोबस्त किये गये" अधिकारों की अवधारणा को समझा। लेकिन अंग्रेज - प्रशासक, विचारक और राजनीतिज्ञ सब एक साथ- 'अधिकारों' की बात से अभिभूत थे और वे उन अधिकारों को परिभाषित करने और स्थापित करने के लिए और भी नये-नये कानून बनाते चले गये, इसके बावजूद कि उनको यह बात पता था कि परम्परागत भारतीय न्यायशास्त्र (अगर वह कभी था) में अधिकार प्रभावतः परंपराएं और प्रथाएं थीं और मूलतः स्थानीय थी।

हालांकि, जैसे हमने ऊपर देखा, ऐसी 'परंपराएं' औपनिवेशिक न्यायशास्त्र में शामिल किये गये थे, किन्तु भारतीय कानूनों का मुख्य भाग 'बन्दोबस्ती' की ही बात करता रहा। जब 19वीं शताब्दी के अन्त में भारत में वन विभाग का गठन किया गया था और नया कानून बना, तब लगता है कि औपनिवेशिक प्रशासकों और वन- अधिकारियों के लिए वन अधिकार और उनकी बन्दोबस्ती चिन्ता के मुख्य मुद्दे बने हुए थे। कैसे इसका अन्ततः राज्य के पक्ष में समाधान किया गया और कैसे राज्य ने पूरे देश में एक के बाद एक वनक्षेत्रों पर तेजी से कब्जा कर लिया, खास करके उन भूमियों को जिनका कोई बन्दोबस्त कानूनी मालिक नहीं थे, - इतिहास में भली-भांति दर्ज इस बहस में जाने की हमें जरूरत नहीं है।

आजाद भारत में वन अधिकार

देश की आजादी से वनों में रहने वाले लोगों की बदहाली और भी बढ़ गयी। नये राज्य ने पुराने औपनिवेशिक वन कानूनों को और भी सख्त बनाया, जंगलों और लोगों के अधिकारों को घटाया या सीधे उनको अधिकारों से वंचित किया, और यह अक्सर जबरन और गैरकानूनी ढंग से किया गया।

इस बीच में उत्पादन वानिकी के नाम से प्राकृतिक वनों की कटाई जारी रही। जंगल गायब होते रहे और व्यापारियों और ठेकेदारों की एक नयी नस्ल के रूप में उभरे "वन माफिया" के राज ने अधिकाधिक भ्रष्ट होते वन प्रशासन के साथ हाथ मिलाया। वनों की इस अधिकृत/अनधिकृत लूट ने परम्परागत समुदायों की पारिस्थितिकी को नष्ट कर दिया। गरीबी, बेरोजगारी और भुखमरी के चलते दोनों आप्रवासी और आदिवासी वनमाफिया के तहत मजदूर बनने के लिए मजबूर हो गये और इस प्रकार देश के वन जनों के सर्वहाराकरण की प्रक्रिया शुरू हुई।

सरकारी तौर पर भारत के भूभाग के 33 प्रतिशत हिस्से पर वन कायम रखने की जरूरत मानी गयी। 1988 में नयी राष्ट्रीय वननीति बनी। अबतक भारतीय वनों का आधा से ज्यादा काटकर खत्म कर देनेवाले वनविभाग के नये 'संरक्षणवादी' अवतार (1951 से 1979 के बीच औद्योगिक वृक्षरोपणों के लिए 33.3 लाख हेक्टेयर प्राकृतिक वन काट दिये गये) ने 33 प्रतिशत वन कायम करने की चुनौती स्वीकार की। वनों की कटाई के पीछे स्थित विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कारणों का आकलन करने के बदले, विभाग ने सीधे 'अतिक्रमण' का तर्क लगाया, मानों अगर गुजारे की खेती के लिए वन भूमि का उपयोग करने वालों और वनों में रहने वाले भूमिहीन वनजनों को बेदखल करने मात्र से चमत्कारिक ढंग से देश में वन आच्छादन बढ़ जायेगा।

संरक्षण का भारी भरकम तंत्र कदम बढ़ाता गया, बड़े पैमाने पर बेदखलियां शुरू की गयीं और न तो भारत सरकार और न ही संरक्षणवादी एन.जी.ओ. संगठनों ने इस तथ्य पर ध्यान दिया कि भारत के अधिकतर वन समुदायों के अधिकारों की बन्दोबस्ती किये बगैर औपनिवेशिक सरकार ने उनसे उनके वन छीन लिये और वास्तव में वन विभाग खुद सबसे बड़ा

अतिक्रमणकारी है। 1927 के भारतीय वन अधिनियम के अंतर्गत किसी भी इलाके को सरकारी वन घोषित करने के पहले अधिकारों की बन्दोबस्ती करना अनिवार्य है, लेकिन कई इलाकों में यह प्रक्रिया कभी चलायी ही नहीं गयी और अन्य कई इलाकों में सर्वेक्षण अपूर्ण रहे।

जिन लोगों के अधिकार दर्ज नहीं किये गये थे वे "राज्य के क्षेत्र" में निवास करते हैं जहाँ उनके साथ घुसपैठियों, अतिक्रमणकारियों और वन्यजीवों के दुश्मनों जैसा व्यवहार किया गया। सरकार के लिए उनके खिलाफ की गयी किसी भी जोर जबरदस्ती के औचित्य को साबित करना जरूरी नहीं रहा, और हिंसा, बलात्कार और हत्याएं आम बात हो गयी हैं। भारत में वनों से की गयी बेदखलियों में निदर्शनात्मक बर्बरता अपनायी जाती है।

टाइगर टास्क फोर्स की हाल की एक रिपोर्ट (2005) (विभिन्न व्याघ्र आरक्षण क्षेत्रों में बाघों की मौतों की जाँच करने के लिए भारत के प्रधानमंत्री द्वारा गठित) में कहा गया है कि "देश के अन्दर सचमुच एक युद्ध जैसी स्थिति है जिसमें अन्दर के तमाम बलों का प्रयोग किया जाता है।"



तस्वीर : संजय बसु मल्लिक

वन अधिकार विधेयक

बड़े पैमाने पर बेदखलियों से बचने के समन्वित प्रयास में उड़ीसा, झारखण्ड, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश के राज्यों में आदिवासी और अन्य वनजन अपने-अपने जिला समाहर्ताओं के कार्यालयों में अपनी भूमियों के स्वामित्व संबंधित हजारों दावे दाखिल करने लगे। जमीनों के दावे दाखिल करने की प्रक्रिया ने एक जन आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। संगठित प्रतिवाद किये गये, घटती घटनाओं, कानूनी स्थिति और कानून के उल्लंघनों का विवरण बताते हुए करणीय प्रयासों के बारे में प्रचारित किया गया।

देश के आदिवासी इलाकों में बढ़ते तनाव को दूर करने और अपनी कार्य प्रक्रिया में सुधार लाने के लिए सरकार ने 2004 में दो नये सर्कुलर जारी किये जिनमें 1993 से आदिवासियों द्वारा जोती गयी भूमियों के नियमन को विहित किया गया और 6 महीनों के अन्दर तमाम वनग्रामों को राजस्व गांवों में बदलने के लिए कहा गया। भारत के उच्चतम न्यायालय ने इन सर्कुलरों को स्थगित कर दिया। दिसम्बर 2004 में कुछ अन्य मार्गदर्शी सूत्रों ने अपात्र 'अतिक्रमणकारियों' को छोड़कर बाकी आदिवासियों की बेदखली पर रोक लगाई गयी (यानी बेदखलियाँ जारी रहेंगी)। 12 मई, 2005 को एक और मार्गदर्शी सूत्र ने बिना सत्यापन प्रक्रिया के किसी वनवासी को बेदखल करने पर रोक लगाई। 3 नवम्बर, 2005 को अन्तिम कुछ मार्गदर्शी सूत्र जारी किये गये जिनके अनुसार पहली बार अधिकारों को मान्यता देने के लिए एक ग्रामस्तरीय प्रक्रिया की व्यवस्था की गयी। लेकिन आज भी बेदखलियाँ जारी हैं, आज भी लोग देश के विभिन्न भागों में वन भूमियों से बेदखल किये जा रहे हैं।

वर्तमान सरकार की राजनैतिक मजबूरियों और वन आन्दोलनों द्वारा लगातार किये जा रहे असरदार प्रयासों के फलस्वरूप विवादास्पद वनाधिकार विधेयक 2005 बनाया गया जिसमें पहली बार भारत के इतिहास में वनों में आदिवासियों के अधिकारों एवं दावों की बात की गयी और उनकी रक्षा करने का वादा किया गया। विधेयक में 13 निर्दिष्ट अधिकारों का प्रस्ताव किया गया जो दाययोग्य होंगे लेकिन हस्तान्तरणीय नहीं होंगे जैसे— वन उपजों एवं चारागाह के अधिकार, डाई हेक्टेयर जमीन का स्वामित्व, गैरकानूनी ढंग से रद्द किये गये स्वामित्वों की वापसी, जमीनों के अनुदान और पट्टे, परम्परागत और रिवाजी अधिकार, सामूहिक सामुदायिक संसाधनों के अधिकार, आदिम आदिवासी समूहों के निवास के अधिकार, जैव विविधता का अधिकार और बौद्धिक सम्पत्ति और परम्परागत जानकारी पर सामुदायिक अधिकार और वनों की रक्षा करने का अधिकार।

इस विधेयक की प्रतिक्रिया में भारत की 'संरक्षण' चौकड़ी

एकदम विरोध में खड़ी हो गयी हैं; एन.जी.ओ. और वन अधिकारी 'गलत हो रहा है' का हल्ला मचाने लगे। उन्होंने यह कहते हुए विधेयक पर आपत्ति की कि— इस कानून से वनभूमि आदिवासी परिवारों में बंट जाएगी, वनों के संरक्षण में कमी आएगी और वन्यजीव और लोग एक साथ नहीं रह सकते। विधेयक की व्याख्या 'भारतीय व्याघ्र का अंत' कह कर की गई। विधेयक का वन आन्दोलनों ने भी विरोध किया क्योंकि उन्होंने इसमें स्पष्टता का अभाव देखा तथा इसमें वनों में रहने वाली एक बड़ी आबादी को शामिल नहीं किया गया था। सरकार को यह विधेयक संयुक्त संसदीय समिति के पास भेजना पड़ा जिसने 3 महीनों तक वन-आन्दोलनों और 'संरक्षणवादियों' से बयान दर्ज करने के बाद विधेयक में संशोधन के लिये काफी बड़ी और बुनियादी सिफारिशों की। शुरू के विधेयक में सिर्फ अनुसूचित जनजातियों की बात की गई थी पर संसदीय समिति की सिफारिशों में सभी परम्परागत वनजनों को शामिल किया गया। अधिकारों के स्वरूप और मात्रा को अधिक स्पष्टता से परिभाषित किया गया और अगर ये सिफारिशें विधेयक के संशोधित रूप में शामिल की जाती हैं तो भारतीय वनों के इतिहास में पहली बार समुदायों को देश में हर जगह टिम्बर छोड़कर बाकी सभी वन संसाधनों पर समान रूप से 'दर्ज' और 'कानूनी' अधिकार मिलेंगे। हमें इंतजार करना है और देखना है कि भारत सरकार इस संबंध में क्या फैसला लेती है।

लेकिन निःसंदेह यह विधेयक भारत के वन इतिहास में एक नयी शुरुआत का सूत्रपात करता है और चीजें बदलनेवाली हैं। प्रस्तावित वन अधिकार विधेयक से, भारत के वनजनों का संघर्ष एक अधिक निर्णायक "राजनैतिक चरण" में प्रवेश करता है जहाँ वन आन्दोलनों को लगातार होशियार रहना पड़ेगा ताकि दबे-कुचले लोगों और गरीबों को विधेयक से फायदे और राहत मिलें। यह बात सुनिश्चित करने की जरूरत है कि भारतीय वनों पर वनजनों का सामाजिक नियंत्रण कायम करने के कार्यक्रम पर इस देश के शक्तिशाली कागज उद्योग लॉबी और विश्वबैंक का ग्रहण न लग जाये, और यह भी देखना है कि वनों पर राज्य के एकाधिकार को खत्म करने के जोश का अर्थ ऐसी शक्तियों के हाथों में खेलना नहीं है जो गंभीरतापूर्वक वानिकी क्षेत्र में 'समुदायमुखी' कानूनी और नीतिगत सुधारों की वकालत कर रहे हैं। इस प्रकार जन अधिकार और वन विधेयक के लिए संघर्ष वनों के आसन्न निगमीकरण या निजीकरण के खिलाफ संघर्ष बन जाता है। हालांकि संघर्ष की रूपरेखा अभी तक पूरी तरह परिभाषित नहीं की गई है, फिर भी समझदारी सावधान रहने में है कि झूठी सुरक्षा की भावना में हम ठंढे न पड़ जायें।

बद से बदतर

आंध्र प्रदेश में विश्वबैंक की वानिकी परियोजना से आदिवासी समुदायों का मोहभंग

टॉम ग्रिफिथ्स

वन जनों का कार्यक्रम

1990 के दशक में विश्व बैंक ने आंध्र प्रदेश में एक विवादास्पद संयुक्त वन प्रबंधन (जेएफएम) परियोजना के लिए एक ऋण दिया। आदिवासी एवं उनके समर्थक संगठनों ने इस परियोजना का तीव्र विरोध किया क्योंकि इस परियोजना के चलते आदिवासी परिवारों को जबरन बेदखल किया गया था; वन विभाग ने उनके झूम खेतों को छीन लिया और आदिवासियों द्वारा वनों के उपयोग पर कड़ी पाबंदियाँ लगायी गयीं। इससे भी बदतर यह कि इन प्रभावित आदिवासी परिवारों को उनकी आजीविका और सांस्कृतिक संसाधनों को हुए नुकसान के लिए कोई मुआवजा नहीं दिया गया; कहीं दिया भी गया तो बहुत कम।

2002 में विश्व बैंक ने उसी राज्य में एक और वानिकी परियोजना शुरू की। इस बार बैंक ने इस हस्तक्षेप का नाम रखा — आंध्र प्रदेश सामुदायिक वन प्रबंधन परियोजना। वर्ष 2007 के अंत तक चलने वाली तथा 10.8 करोड़ डॉलरों के ऋण से वित्तियन की गयी इस परियोजना को बैंक ने 'समुदाय चालित' हस्तक्षेप के रूप में प्रायोजित किया। इस हस्तक्षेप के तहत वन संरक्षण समितियों को प्रबंधन के लिए सौंपी गयी भूमियों पर स्वायत्त रूप से वन प्रबंधन से संबंधित निर्णय लेने के लिए समुदायों का 'सशक्तिकरण' करने की बात कही गयी। परियोजना का प्रायोजन करने वाले सरकारी एवं बैंक अधिकारियों का कहना था कि सामुदायिक वन प्रबंधन वन संरक्षण समिति में भाग लेने वाले समुदायों की गरीबी कम करने में मदद करेगा। वनोपज की बिक्री में हिस्सेदारी का लाभ उठाने के लिए उनके कानूनी हकों में वृद्धि करके तथा एकाधिकारी राज्य के मालिकाना वाले गिरिजन कॉरपोरेशन द्वारा लघु वनोपज के लिए अन्यायपूर्ण मूल्य निर्धारण को हटाकर वह यह मदद करेगा।

बैंक द्वारा वित्तियन से संचालित पिछली जे.एफ.एम. परियोजना से हुई समस्याओं को देखते हुए आंध्र प्रदेश में आदिवासी समुदायों और कई वन संबंधित एवं विकास कार्यों में लगे ए.जी.ओ. संगठनों ने दूसरे बैंक ऋण का सख्त विरोध किया था। लेकिन जब विश्व बैंक ने उनके प्रतिवाद पत्रों की प्रतिक्रिया में परियोजना के अंतर्गत फिर से कोई गड़बड़ी नहीं होने देने और पिछले विश्व बैंक के जे.एफ.एम. हस्तक्षेप के तहत जमीनें खोए हुए परिवारों को उचित मुआवजा देने की बाध्यता स्वीकार की तब आदिवासियों और एन.जी.ओ. संगठनों ने प्रतिवाद करना छोड़ा। इन आश्वासनों के बारे में गहरी शंकाओं के बावजूद, कई समर्थक संगठन और वन संरक्षण समितियाँ अन्ततः परियोजना में शामिल होने पर सहमत हुईं। वन प्रबंधन के प्रति एक नया समुदाय आधारित दृष्टिकोण अपनाने के विश्व बैंक के वादे को देखते हुए कुछ लोगों ने परियोजना से बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ भी पाली थीं।

सामुदायिक वन प्रबंधन परियोजना से मोहभंग

वनजन कार्यक्रम (फॉरेस्ट पीपुल्स प्रोग्राम) और समता (स्थानीय एन.जी.ओ.) द्वारा 2004 में किये गये सामुदायिक वन प्रबंधन (सी.एफ.एम.) परियोजना के एक स्वतंत्र मूल्यांकन में पाया गया कि दो वर्षों के कार्यान्वयन के बाद सहभागी आदिवासी समुदायों और समर्थक एन.जी.ओ. संगठनों का परियोजना से गहरा मोहभंग हुआ और उन्होंने महसूस किया कि वन विभाग ने सी.एफ.एम. परियोजना के तहत वन प्रबंधन पर अपना नियंत्रण बढ़ाया है।

2004 में कई गाँवों ने शिकायत की कि वन विभाग ने वन संरक्षण समितियों द्वारा वन संबंधी मुद्दों पर लिये गये स्वायत्त निर्णयों की बकायदा उपेक्षा की या ठुकरायी। आदिवासी ग्रामीणों ने बताया कि जिन वन संरक्षण समितियों ने वन विभाग के निर्देशों को चुनौती देने की हिम्मत की उनके खिलाफ कानूनी

कार्यवाही करने और/या परियोजना से प्राप्य फायदों से उनको वंचित करने की धमकी दी गई। वन विभाग द्वारा संचालित सी. एफ.एम. परियोजना के लेखा में पारदर्शिता का अभाव, भ्रष्टाचार और वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा परियोजना की निधियों के दुरुपयोग से संबंधित अनेकों शिकायतें भी की गईं।

परियोजना गहरी समस्या में पड़ी :

नवम्बर 2006 में उत्तर-पूर्व आंध्र प्रदेश में वनजन कार्यक्रम के लोगों ने गांवों के परिदृशन के समय पाया कि 2004 में सी. एफ.एम. परियोजना में चिन्हित कई समस्याओं का समाधान नहीं किया गया है और हालात बद से बदतर हुए हैं। अभी भी वन संरक्षण समितियों की निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं को ठीक से शामिल नहीं किया जाता है : 'वन संरक्षण समितियां गांवों की रिवाजी सीमाओं का सम्मान नहीं करती हैं, कई वन संरक्षण समितियों का अभी तक सीमांकन नहीं हुआ है। अभी भी वन विभाग वन संरक्षण समितियों के संकल्पों और निर्णयों को खारिज करता है और सी.एफ.एम. की राशियां मुख्यतः वन विभाग की प्राथमिकताओं के अनुसार दी जाती हैं। जहाँ तक आदिवासी विकास की बात है, कई वन संरक्षण समितियों को बताया गया कि अभी के लिए वन विभाग इस योजना का कार्यान्वयन नहीं कर रही है और ग्रामीण विकास के लिए वन संरक्षण समितियों के प्रस्ताव मंजूर नहीं किये गये हैं। भ्रष्टाचार संबंधी समस्याएं भी कायम हैं। जैसा कि एक आदिवासी नेता कहते हैं :

हमने वन संरक्षण समितियों में पारित एक संकल्प में वन भूमि पर अपने अधिकारों को पुष्ट किया और दो वर्षों से कोई भी फायदा न देने और परियोजना की निधियों का दुरुपयोग करने के लिए सी.एफ.एम. परियोजना की आलोचना की। हमारी वन संरक्षण समिति को एक लाख रुपयों की राशि का आबंटन किया गया, फिर भी समिति को सिर्फ सत्ताइस हजार दिये गये और बाकी विभाग की जेब में है। अभी भी वन विभाग से समुदाय को बहतर हजार रुपया मिलना बाकी है (सरपंच, गोरपाडु गाँव, नवम्बर 2006)।

अधिकाधिक वन संरक्षण समितियों का सी.एफ.एम. परियोजना से इतना मोहभंग हो गया है कि उन्होंने यह धमकी देते हुए संकल्प पारित किये हैं कि हालात में सुधार न हों तो वे परियोजना से हट जायेंगे। वन संरक्षण समितियों ने इन सभी बयानों में समुदाय के नाम से हासिल सी.एफ.एम. की निधियों पर नियंत्रण करने की वन विभाग की दादागिरी भूमिका की भर्त्सना की है। ग्रामीण मानते हैं कि निधियां अधिकतर विभाग की जेब में रहती

हैं। गाँवों में एक लतीफा चल निकला है कि सी.एफ.एम. का अर्थ होता है "कॉमन मैनेजमेंट फंड", यानी जिस फंड का प्रबंधन वन विभाग द्वारा वन विभाग के फायदे के लिए किया जाता है।

पुनर्स्थापन कार्ययोजना से गंभीर समस्याएं

नवम्बर 2006 में किये गये एक स्वतंत्र मूल्यांकन में पाया गया कि अभी लगभग सारी सी.एफ.एम. परियोजना विवादास्पद पुनर्स्थापन कार्ययोजना के कार्यान्वयन के लिए चलायी जा रही है। कई समुदायों और स्थानीय एन.जी.ओ. संगठनों ने पुनर्स्थापन कार्ययोजना की आलोचना की क्योंकि प्रभावित 75 प्रतिशत गाँवों में वन विभाग ने जे.एफ.एम. के तहत जमीन खोए हुए लोगों के लिए भूमि के बदले भूमि की क्षतिपूर्ति के दावों को ठुकराया है। इस कार्ययोजना की निन्दा इसलिए भी की गई है कि इस समय आंध्र प्रदेश सरकार ने संसद में विचाराधीन वनाधिकार विधेयक के तहत वनजनों के अधिकारों की भावी मान्यता के विकल्पों को बंद कर दिया है।

हालांकि खासी संख्या में एन.जी.ओ. संगठनों ने वन विभाग द्वारा पुनर्स्थापन कार्ययोजना में भाग लेने के लिए दिये गये आमंत्रणों को ठुकरा दिया है, फिर भी वन विभाग बाहर के एन.जी.ओ. संगठनों को लाकर कार्ययोजना के कार्यान्वयन के काम में आगे बढ़ गया है, जबकि उन संगठनों को समुदायों के बारे में जानकारी नहीं है और वे सिर्फ पैसे के लिए कार्ययोजना में शामिल हुए हैं।

सार्विक सहभागिता का अभाव

2006 की एक जाँच पड़ताल में पाया गया कुछ समुदायों को सही जानकारी नहीं दी गई है और उन्होंने पुनर्स्थापन कार्ययोजना में सार्विक रूप से भाग नहीं लिया है। आदिवासी ग्रामीणों की शिकायत है कि कार्ययोजना लागू करनेवाले एन.जी.ओ. संगठनों ने उनको उसके प्रयोजन या मूलवस्तु नहीं समझायी है। ग्रामीणों से सिर्फ इतना ही कहा गया कि वन विभाग के पास "पुनर्स्थापन कार्ययोजनायें" कही गई किसी चीज के तहत "भूमि सुधार" और "आय उपार्जन" हेतु वन संरक्षण समिति के सदस्यों को देने के लिए पैसा आया हुआ है। कई प्रभावित समुदाय यह नहीं समझते हैं कि पुनर्स्थापन कार्ययोजना क्या चीज है और वह क्यों सी.एफ.एम. परियोजना का अंग है। दो मामलों में कार्ययोजना से संबंधित एन.जी.ओ. संगठनों ने ग्रामीणों को यह गलत जानकारी दी कि कार्ययोजना सहायता एक ऋण है जिसे पूरी तरह या आंशिक रूप से चुकाना होगा।

सामाजिक प्रभाव आकलन का अभाव :

परियोजना ऋण समझौते के विपरीत, प्रत्येक परिवार के

लिए ऐसे कोई विस्तृत प्रभाव आकलन नहीं किये गये हैं कि अपनी झूम कृषि भूमियों को खोने के बाद पिछले दस वर्षों में उनके द्वारा भोगे गए कष्टों में कितनी द्रव्य रूप में और अन्यथा क्षति हुई होगी।

समान दर पर मुआवजा :

ग्रामीण कहते हैं कि वन विभाग ने प्रत्येक परिवार के लिए 25 हजार रुपये की दर पर एक समान बजट लागू किया है जो वस्तु रूप में है (नगद में नहीं)। आंध्र प्रदेश वन विभाग ने यह दर निर्धारित की है। समुदाय और एन.जी.ओ. संगठनों की शिकायत है कि आंध्र प्रदेश वन विभाग ने निर्णय दिया है कि इस दर को बढ़ाने के लिए कोई बात नहीं होगी। अपनी आजीविका के लिए पहले झूम खेती पर पूरी तरह निर्भर रहे भूमिहीन आदिवासी ग्रामीण कहते हैं कि वे अभी अधिकतर मजदूरी पर निर्भर हैं जो बहुत कम उपलब्ध है, मौसमी है और असुरक्षित है। उनकी भावना है कि जे.एफ.एम. के पहले झूम खेती करते समय वे काफी अच्छी हालत में थे।

सहमति समझौतों से संबंधित समस्याएं

कुछ गाँवों में पुनर्स्थापन कार्ययोजना सहमति प्रक्रिया में भी गंभीर समस्याएं हुई हैं। श्रीकाकुलम जिले में ग्रामीणों को यह बताते हुए समझौतों पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया है कि वे फिर कभी झूम खेती में वापस नहीं जायेंगे और अगर समझौते का उल्लंघन करते हैं तो उनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही हो सकती है। सभी मामलों में सहमति पत्रों में इस बात की पुष्टि की गई है कि 1990 के दशक में जे.एफ.एम. के तहत स्वेच्छापूर्वक भूमि त्याग दी गई। इस प्रकार सभी परिवारों से यह कहते हुए लिखित बयान लिया गया है कि उन्होंने स्वेच्छापूर्वक पिछली विश्व बैंक से सहायता प्राप्त परियोजना के तहत जमीन दे दी है और वन विभाग अपनी पीठ कानूनन बचाने के लिए इन सहमति समझौतों का उपयोग कर रहा है (इस बात के बावजूद कि कई ग्रामीणों का दावा है कि बात ऐसी नहीं थी, दरअसल उनको झूम जमीन छोड़ने के लिए निर्देश दिया गया था)।

कई गाँवों में लोगों का आरोप है कि पुनर्स्थापन कार्ययोजना से संबंधित एन.जी.ओ. संगठनों ने दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने के लिए उनसे कहा है लेकिन उनको यह बात स्पष्ट नहीं किया गया है कि वे किस चीज पर हस्ताक्षर कर रहे हैं। कुछ मामलों में ग्रामीणों से सादे कागज के टुकड़ों पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया है, और ग्रामीणों और उनके नेताओं को यह पता नहीं है कि उन्होंने सहमति समझौतों पर हस्ताक्षर किया है या पुनर्स्थापन कार्ययोजना से संबंधित एन.जी.ओ. संगठनों द्वारा आयोजित

बैठकों की कार्यवाही (मिनट्स) पर हस्ताक्षर लिया गया है। कई गाँवों में लोग कहते हैं कि एन.जी.ओ. संगठनों ने यह कहकर उनको सहमति पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए दबाव डाला है कि यह प्रति परिवार "मंजूर की गई" 25 हजार रुपयों की राशि प्राप्त करने के लिए है :

एन.जी.ओ. के आदमी ने लोगों से हस्ताक्षर और अँगूठों के निशान लिये। उसने कहा : "25 हजार रुपये का फायदा पाने के लिए यहाँ हस्ताक्षर करो। अभी वन संरक्षण समिति से कोई मजदूरी नहीं मिल रही है, इसलिए तुमको पुनर्स्थापन कार्ययोजना का फायदा पाने के लिए इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर करना चाहिए।" उसने हमें बताया कि महिलाओं को साड़ियाँ मिलेंगी और पुरुषों को कपड़े। उसने प्रत्येक परिवार से दो सौ रुपये लिये और कहा कि पुनर्स्थापन कार्ययोजना से सहायता पाने के लिये यह जरूरी है। 18 परिवारों ने उस आदमी को इस राशि का भुगतान किया (चापड़ीगुड़ा गाँव में एक बैठक में सबर परिवार का कथन, नवम्बर 2006)।

सहमति प्रक्रिया का दुरुपयोग करने के अलावा, जैसा कि उपरोक्त उदाहरण दर्शाता है, पुनर्स्थापन कार्ययोजना से संबंधित कुछ एन.जी.ओ. संगठन भ्रष्टाचार में स्पष्ट रूप से लिप्त हैं। सबसे बदतर मामलों में ऐसी रिपोर्टें मिली हैं कि लोगों की अनुपस्थिति में सहमति पत्रों पर लोगों के अँगूठों के निशान और नाम घुसाये गये।

विकृत प्रोत्साहन

साथ ही, पुनर्स्थापन कार्ययोजना ने जे.एफ.एम. के तहत झूम भूमि खोये हुए भूमिहीन परिवारों को वस्तु रूप में गैर-भूमि क्षतिपूर्ति स्वीकार करने के लिए दबाव डालने हेतु भू-स्वामी परिवारों को एक विकृत प्रोत्साहन दिया कि ऐसा करने से इन सम्पन्न परिवारों को पुनर्स्थापन कार्ययोजना के तहत भूमि सुधार कार्यों में अतिरिक्त प्रत्यक्ष लाभ मिलेंगे। भूस्वामी परिवारों को मुआवजा देने के बाद 1990 के दशक में जे.एफ.एम. के द्वारा भूमिहीन बनाये गये परिवारों को पुनर्स्थापन कार्ययोजना के तहत नियमित रूप से भेड़-बकरियाँ दी गईं। उनको यह स्पष्ट नहीं किया गया कि वे परिवार इन जानवरों को कहां चरायेंगे क्योंकि वन विभाग उनको वन से चारा लेने नहीं देता है। ऐसे भी चिन्ताजनक संकेत हैं कि कुछ गाँवों में भूमिहीन परिवारों को पुनर्स्थापन कार्ययोजना के तहत फायदों से पूरी तरह वंचित किया जा रहा है (नीचे देखें)।

बेअसर अनुश्रवण ढाँचे

आदिवासी गाँवों में पुनर्स्थापन कार्ययोजना कार्यान्वित करने

वाले एन.जी.ओ. संगठन कहते हैं कि उनको पता नहीं है कि विस्थापन के पूर्व स्तर तक लोगों की आजीविकाओं को किस हद तक पुनर्स्थापित किया गया; और इसका मूल्यांकन करने के कौन-से संकेतक हैं। पुनर्स्थापन कार्ययोजना से संबंधित 3 एन.जी.ओ. संगठनों से 2006 के एक अध्ययन के दौर में भेंटवार्ता की गयी थी जिसमें उन्होंने दावा किया कि उनको संकेतक निर्धारित करने का कोई प्रशिक्षण नहीं दिया गया और हरेक गाँव के लिए बनाये गये कार्ययोजना दस्तावेजों में इस मुद्दे पर कुछ नहीं बताया गया।

असरदार प्रतिकार समाधान तंत्र का अभाव :

आदिवासी ग्रामीण और एन.जी.ओ. संगठन एक ही बात कहते हैं कि उनको पुनर्स्थापन कार्ययोजना के तहत किसी शिकायत प्रतिकार तंत्र के मौजूदगी की कोई जानकारी नहीं है और उनको यह पता नहीं है कि हैदराबाद में अवस्थित सी.एफ.एम. परियोजना मुख्यालय में स्थित एक स्वतंत्र सलाहकार ग्रूप (आइ.ए.जी.) से शिकायतें की जा सकती हैं। कई मामलों में वन संरक्षण समितियों के अध्यक्ष बताते हैं कि उन्होंने पुनर्स्थापन कार्ययोजना के बारे में प्राप्त शिकायतें आंध्र प्रदेश वन विभाग को भेजी हैं लेकिन उनको या तो कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला है या उनकी शिकायत को निराधार कहते हुए खारिज किया गया है।

सी.एफ.एम. और उसकी पुनर्स्थापन कार्ययोजना से बढ़ता असंतोष

फायदे देने और वास्तव में वनों पर समुदाय का नियंत्रण कायम करने में सी.एफ.एम. की विफलता और पुनर्स्थापन कार्ययोजना से होनेवाली समस्याओं के चलते सहभागी वन संरक्षण समितियों से जुड़े समुदायों में असंतोष बढ़ता जा रहा है। कुछ स्थानों में, जैसे— कुरुपम रेंज में वन संरक्षण समितियों ने पुनर्स्थापन कार्ययोजना में भाग लेने से इनकार कर दिया है। वहाँ वन विभाग ने गाँव वालों से कहा है कि उनको झूम भूमियाँ देने के बदले पुनर्स्थापन लाभ दिया जायेगा, फिर भी सभी 12 वन संरक्षण समितियों ने कहा : “नहीं!” उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि उनकी झूम भूमियों पर काजू के बगीचे हैं और उनमें रागी जैसे महत्वपूर्ण परम्परागत खाद्य फसलें पैदा होती हैं। इस प्रकार समुदाय अपने परम्परागत अधिकारों पर अधिकाधिक जोर दे रहे हैं और उनको उनकी भूमियों से वंचित करने के आंध्र प्रदेश वन विभाग के प्रयासों को टुकरा रहे हैं।

समुदाय के नेताओं की शिकायत है कि सीएफएम परियोजना सरकार द्वारा इस समय वन अधिकार विधेयक के तहत पारंपरिक उपयोग के अधिकारों को मान्यता देने के लिए किये जा रहे

प्रयासों को कमजोर करती है।

समुदाय के समर्थक कई एनजीओ संगठनों ने अपने को सीएफएम से अलग कर लिया है। वे भी इस बात पर जोर देते हैं कि तमाम पुनर्स्थापन कार्य योजना की कार्यवाही में विश्व बैंक की सुरक्षा नीतियों का कई प्रकार से उल्लंघन किया जा रहा है, जिसमें बैंक की पुनर्स्थापन नीति और आदिवासी जनों से संबंधित नीति भी शामिल हैं। इससे भी गंभीर बात यह है कि सीएफएम और उसकी पुनर्स्थापन कार्ययोजना आंध्र प्रदेश सरकार की वनों पर निर्भर समुदायों की हक विलेख रहित भूमियों का नियमन करने की प्रतिबद्धताओं के खिलाफ काम कर रही हैं।

आंध्र प्रदेश में आदिवासी नेता और उनके समर्थक इस बात पर जोर देते हैं कि विश्व बैंक की तथाकथित ‘सामुदायिक’ वन प्रबंधन (सीएफएम) परियोजना से हुए नकारात्मक अनुभव से भारत में अन्यत्र आदिवासी जनों को सीख लेकर चेत जाना चाहिए क्योंकि उनको अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार विश्व बैंक की वानिकी परियोजनाओं में एक ‘नये दृष्टिकोण’ का वादा किया जा रहा है।

जब हमने पहली बार सीएफएम परियोजना के बारे में सुना तब हमने सोचा था कि ‘समुदाय’ इसके केन्द्र में रहेगा और समुदायों को वनभूमि पर नियंत्रण दिया जायेगा। हमने विश्वास किया था कि सीएफएम परियोजना घी-तेल पिलाकर हमें मोटा कर देगी। लेकिन जब हमने वह पिया तो पाया कि उसमें कोई सार नहीं है। सीएफएम में कोई ‘समुदाय’ नहीं है। उसमें से अच्छाई का हिस्सा निकाल दिया गया है।

(संजीव राव, वेलुगु एसोसिएशन, नवम्बर 2006)

¹ इसके बावजूद कि कुछ आदिवासी गाँव भाग लेने के लिए सहमत हुए, आंध्र प्रदेश के अन्य कई आदिवासी समुदायों ने विश्व बैंक की सीएफएम परियोजना में भाग लेने से इनकार कर दिया (क्षेत्र के समुदायों के 40 प्रतिशत से 70 प्रतिशत के बीच)। इन समुदायों ने विदेशी धन की मदद से किये गये इस हस्तक्षेप को टुकरा दिया और कहा कि यह आदिवासी जनों को अपने जंगल छोड़ देने के लिए दी जा रही ‘घूस’ है।

² ग्रिफिथ्स, टी. रेब्बाप्रगड़ा, आर और कल्लूरी, बी (2005)

“महान् सामुदायिक वन प्रबंधन झांसा : आंध्र प्रदेश (भारत) में चल रही विश्व बैंक परियोजना का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन”, डब्ल्यू आर एम बुलेटिन सं. 93 (अप्रैल 2005)। और यह भी देखें: एफपीपी और समता (2005) आंध्र प्रदेश सामुदायिक वन प्रबंधन परियोजना – एक विश्व बैंक वानिकी परियोजना का एक प्रारंभिक स्वतंत्र मूल्यांकन, मोरटन-इन-मार्श और हैदराबाद।

संकटापन्न सहजीवन

बेदखलियाँ और भारत के वन समुदाय

आदिवासियों और गरीब ग्रामीणों को उनके निवास स्थलों से मनमाने ढंग से बेदखल करने के लिए राज्य की हथियारबंद ताकत के इस्तेमाल के लंबे इतिहास में एक और मील का पत्थर 3 मई 2002 को खड़ा किया गया। उस दिन वन महानिरीक्षक (इंस्पेक्टर जनरल ऑफ फॉरेस्ट्स) ने सभी राज्य सरकारों के मुख्य सचिवों के नाम एक पत्र जारी किया जिसमें यह सूचित किया गया कि गोदावर्मन तिरुमलपाद बनाम भारत सरकार के मामले में (याचिका सं. 202/95, वादकालीन आवेदन में) उठायी गयी वनभूमियों पर अतिक्रमण की समस्या पर कार्रवाई करते हुये उच्चतम न्यायालय ने अपने आदेश (23 नवंबर 2001) द्वारा केन्द्र सरकार को बिना न्यायालय की अनुमति के देश में अतिक्रमणों को वैध करने से रोका। पत्र में आगे राज्य अधिकारियों को निर्देशित किया गया कि 30 सितंबर 2002 तक वे वैसे सभी अतिक्रमणों को हटाने के लिए कालबद्ध कार्यक्रम तैयार करें जो मंत्रालय के 1990 के मार्गदर्शी सूत्रों के अनुसार वैधकरण के लिए पात्र नहीं हैं।

यह पत्र जारी होने के बाद के महीनों में हाल के इतिहास में अभूतपूर्व पैमाने पर देश में चारों तरफ आदिवासियों को जबरन बेदखल किया गया। विभिन्न राज्यों में वन अधिकारियों ने इसके

लिए बलप्रयोग की विविध पद्धतियों को अपनाया। महाराष्ट्र और आसाम में आदिवासियों को बेदखल करने के लिए हाथियों का इस्तेमाल किया गया, तो दूसरे कई राज्यों में राज्य की रिजर्व पुलिस को इस काम में लगाया गया। गुजरात और मध्यप्रदेश में तो वन विभाग ने अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए आदिवासियों के मकानों और खेतों को जलाया भी।

पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा 16.8.2004 को लोकसभा में तारांकित प्रश्न सं. 284 के उत्तर में दिये गये आँकड़े :

- देश में 13.43 लाख हेक्टर वनभूमि पर अतिक्रमण है (1980 के पहले और बाद में)।
- अब तक 1980 के पहले के वैधकरण के लिए पात्र कुल अतिक्रमित क्षेत्र 3.66 लाख हेक्टर है।
- अब तक 1.52 लाख हेक्टर वनभूमि से अतिक्रमण हटाये गये।

दिलचस्प बात है कि निर्देश को लागू करनेवाली एजेन्सियों ने उच्चतम न्यायालय के निर्देश का, सोद्देश्य या अन्यथा, गलत अर्थ निकाला ताकि आदिवासियों और वनों पर निर्भर अन्य गरीब लोगों को ज्यादा से ज्यादा चोट पहुँचायी जाये। एक सूक्ष्म नौकरशाही जोड़-तोड़ द्वारा वन महानिरीक्षक के पत्र ने एक



तस्वीर : बिजु टोपा

कानूनी भ्रम पैदा किया कि उच्चतम न्यायालय ने सचमुच अतिक्रमणकारियों को बेदखल करने के लिए निर्देश दिया, हालाँकि अभी तक ऐसा कोई आदेश जारी नहीं किया गया था।¹ इसके अलावा, पत्र में स्वीकार किये जाने के बावजूद कि "ऐसे अतिक्रमण आमतौर पर शक्तिशाली गुटों द्वारा किये गये हैं", सभी राज्यों ने उनको अछूता छोड़ दिया। वन विभाग के फ्रंट लाइन स्टाफ के खिलाफ भी कोई दंडात्मक कार्रवाई नहीं की गयी जिन्होंने, पत्र द्वारा की गयी स्वीकृति के अनुसार, "समय पर कार्रवाई नहीं की" जिसके चलते अतिक्रमणों का विस्तार होता गया। इसके बदले, आदिवासियों और अन्य गरीब ग्रामीणों को आसान शिकार बनाया गया और हजारों लोगों को सरकारी कार्रवाई करके बेदखल कर दिया गया। इस तरह निर्मम और पश्चात्ताप रहित इतिहास दोहराया गया।

वन महानिरीक्षक के इस पत्र के रूप में हुई यह नयी कार्रवाई और उसका परिणाम वन जनों और राज्य के बीच अब तक मौजूद विरोधात्मक संबंध के गुणात्मक रूप से नये चरित्र को दिखाता है। अपने इस विश्वास से लैस होकर कि उच्चतम न्यायालय की शक्ति उनके पक्ष में है, वन विभाग ने किसी भी प्रकार की सावधानी बरतने की परवाह नहीं की, और कानून के शासन या उपयुक्त प्रक्रिया की विलकुल परवाह न करते हुए कार्रवाई पर उतर गया।

गोदावर्मन का मामला

एक अर्थ में वर्तमान संकट की कहानी का प्रारंभ गोदावर्मन के मामले (याचिका 2002, 1995, टी.एन. गोदावर्मन तिरुमलपाद बनाम केन्द्र सरकार) के साथ शुरू हुई। पीढियों से अपने परिवार द्वारा विकसित जंगलों से पेड़ों की अवैध कटाई से दुखित होकर, तामिलनाडु में गुदलूर के एक एस्टेट के पूर्व-मालिक टी.एन. गोदावर्मन तिरुमलपाद ने उच्चतम न्यायालय में एक जनहित मुकदमा दायर किया। उसके बाद देश भर से प्राप्त अर्जियों (1126 से अधिक वादकालीन आवेदन) पर कार्रवाई करते हुए न्यायालय ने याचिका के दायरे का विस्तार किया और पिछले दशक में सुनवाईयों के दौरान कई महत्वपूर्ण आदेश जारी किये।

इस मुकदमे में न्याय-मित्र वकील हरीश साल्वे ने 23 नवंबर 2001 को एक वादकालीन आवेदन (आइ ए 703/2001) दायर किया; जो सबसे महत्वपूर्ण साबित हुआ। इस आवेदन पर कार्रवाई करते हुए अदालत ने उसी दिन एक अंतरिम आदेश में केन्द्र सरकार को न्यायालय की पूर्व अनुमति के बिना किसी भी प्रकार के अतिक्रमण को वैध करने से रोका। लेकिन

वन ग्राम, झाड़खण्ड। तस्वीर : संजय बसु मल्लिक

"अतिक्रमणकारियों" को बेदखल करने का कोई आदेश जारी नहीं किया।

18 फरवरी 2002 को उच्चतम न्यायालय ने वादकालीन आवेदन 703/2001 पर निम्नलिखित आदेश जारी किया : "उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, तामिलनाडु, आसाम, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और केरला के राज्यों के मुख्य सचिवों को निर्देश दिया जाता है कि वे, जहाँ तक यह वादकालीन आवेदन उक्त राज्यों से संबंधित है, इस आवेदन का जवाब दायर करें और उसमें वनभूमि और खासकर पहाड़ी इलाकों, राष्ट्रीय उद्यानों और आश्रयणियों आदि में और अधिक अतिक्रमण होने से रोकने के लिए लिये गये जरूरी कदमों के बारे में बतायें। यह बात भी सूचित की जानी चाहिए कि पहले जंगल से अतिक्रमण हटाने के लिए कौन-से कदम उठाये गये हैं"

9 मई 2002 को उच्चतम न्यायालय ने एक केन्द्रीय सशक्तीकृत कमिटी (सीईसी यानी Central Empowered Committee) गठित करने का आदेश दिया जिसका काम मौजूदा वादकालीन आवेदनों पर सिफारिश देना, उच्चतम न्यायालय के आदेशों के कार्यान्वयन का अनुश्रवण करना और अनुपालन नहीं किये गये मामलों को न्यायालय के समक्ष पेश करना था। अनुपालन नहीं किये गये कार्यों में शामिल होंगे : "अतिक्रमण हटाना, कार्ययोजनाओं का कार्यान्वयन, क्षतिपूरक वनरोपण, प्लांटेशन तथा अन्य वन संरक्षण संबंधी मुद्दे"।² अगले महीने यह निर्णय कर लिया गया कि सीईसी में कौन-कौन लोग शामिल होंगे और सीईसी के सामने कोई बात रखने के लिए पालन किये जानेवाले नियमों और प्रक्रियाओं से संबंधित एक अधिसूचना जारी की गयी।³ जुलाई में सीईसी ने अतिक्रमण के मुद्दों (वादकालीन आवेदन 703/2001 द्वारा उठाया गया) पर विस्तारपूर्वक कुछ अवलोकन और सिफारिशों की और सितंबर में अपनी रिपोर्ट उच्चतम न्यायालय के समक्ष रखा। इस रिपोर्ट में सीईसी ने पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के पत्र का समर्थन किया और अल्पकाल में जंगलों से 1980 के बाद किये गये सभी अतिक्रमणों को हटाने की सिफारिश की।⁴ लेकिन आदिवासियों और राज्य के बीच वनभूमि से संबंधित विवादों के निपटारे को सुकर बनाने के लिए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा 18 सितंबर 1990 को जारी छह सर्कुलरों के बारे में कोई जिक्र नहीं किया गया। सीईसी की सिफारिशों ने इन सर्कुलरों में से एक को छोड़कर बाकी की उपेक्षा कर दी।⁵

जैसा कि हम देख सकते हैं, गोदावर्मन के मामले में किये गये सैकड़ों हस्तक्षेपों में उच्चतम न्यायालय के निर्देशों के माध्यम से वन संबंधी विरोधों के इतिहास को नये सिरे से लिखा जा रहा है। वन विभाग 'पर्यावरण की दृष्टि से संवेदनशील' और, कार्यकर्ता की भूमिका अदा करने वाले, उच्चतम न्यायालय के आदेशों के

माध्यम से भारतीय वन अधिनियम (1927) को नये सिरे से लिख रहा है। गोदावर्मन के मामले के असर से एक ढाँचा बना है जिसके माध्यम से कार्यकारिणी (वनविभाग) ने इस मामले में प्रविष्ट सैकड़ों हस्तक्षेपों और इन मामलों में न्यायपालिका (उच्चतम न्यायालय) द्वारा जारी निर्देशों द्वारा संसद का लबादा ओढ़ लिया है। इस ढाँचे ने राज्य की आम जनता से कमोबेश कटी हुई इन दोनों संस्थाओं – कार्यकारिणी और न्यायपालिका – को निर्वाचित प्रतिनिधियों से कारगर ढंग से कतराकर सार्वजनिक क्षेत्र में एक नया कानून लिखने का मौका दिया है। इसके द्वारा कानून बनाने की प्रक्रिया ने अपने जनतांत्रिक चरित्र को खो दिया है। वास्तविक नहीं लगते हुए भी यह एक कटु वास्तविकता है कि भारत का सबसे बड़ा भूधारक रातोंरात एकसाथ अभियोजक, जूरी और जज के रूप में रूपांतरित हो गया है।

बेदखलियों का इतिहास

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, 3 मई 2002 का पत्र आदिवासियों और अन्य वन समुदायों को उनके निवास-स्थलों से मनमाने ढंग से बेदखल करने के लिए राज्य के सशस्त्र बल के प्रयोग के लंबे इतिहास में सिर्फ एक और मील का पत्थर है। सदियों से वनों में निवसित एवं विकसित समुदायों के न तो कानूनी अधिकारों को अभिलेखों में दर्ज किया गया है और न ही वन विभाग उनका सम्मान करता है; उनको अब संक्षिप्त विचारण करके बेदखल करने के लिए अतिक्रमणकारियों में बदला जा रहा है। औपनिवेशिक काल में बहुत ही कायदे से आदिवासियों के निवासस्थलों का औपनिवेशीकरण किया गया था और उनके समाज को विघटित किया गया। "वन बस्तियों" के नाम से आरक्षित वनों को उद्दिष्ट करने की नीति, भले ही प्रकट रूप से भारतीय वन अधिनियम के खंडों द्वारा की गई परिभाषा के अनुसार उचित कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से की गयी थी, पर वह वास्तव में तमाम समुदायों को जबरन बेदखल करने का ही एक दूसरा नाम था क्योंकि कानून खुद निरंकुश था। उपनिवेशोत्तर चरण की विशेषता थी आंतरिक उपनिवेशीकरण, जिसमें एक तरफ बड़ी परियोजनाओं के लिए संसाधनों से समृद्ध इलाकों में रहनेवाले हजारों आदिवासियों और अन्य ग्रामीण गरीबों को विस्थापित किया गया और दूसरी तरफ राज्य द्वारा प्रायोजित टिंबर-चौकड़ी द्वारा खुद जंगलों को ही विस्थापित कर दिया गया। "वैज्ञानिक वानिकी" के वेश में विविधतापूर्ण प्राकृतिक वनों को सागवान तथा अन्य टिंबर किस्म के एकल-जाति वृक्षों के बागों में बदल दिया गया। अब हाल में आदिवासियों को वन संरक्षण के नाम से बेदखल किया जा रहा है।

"वन संरक्षण" को देखने का जैसा नज़रिया अधिकाधिक राज्य का बनता जा रहा है, उसमें वनभूमि पर आदिवासियों के परंपरागत

अधिकारों के लिए कोई जगह नहीं है। वह वन में रहनेवालों को वन के निवासस्थलों के एक हिस्से के रूप में स्वीकार नहीं करता है और दलील देता है कि फिर से वृक्षों और वन्यजीवों को पुनरुज्जीवित करने के लिए आदिवासियों को जंगलों से बेदखल करना एक जरूरी पूर्वापेक्षा है। 'औपचारिक' वन संरक्षण (अकसर ऊपरी तौर पर 'सामुदायिक भागीदारी' के नाम से) पर राज्य द्वारा दिये गये इस नये आग्रह ने न सिर्फ जनता द्वारा प्रबंध को नकारा है, बल्कि उसने आदिवासियों को वनों और वनविभाग से अलग-थलग करने की प्रक्रिया को तेज भी किया है। प्राकृतिक वनों पर भूभागीय अधिकारों के सवाल पर आदिवासियों और वन विभाग की परस्पर विरोधी समझौतों और उसके साथ जुड़े आदिवासियों के प्रति वनाधिकारियों के शत्रुतापूर्ण रवैये के फलस्वरूप उनके बीच अविश्वास का एक संबंध विकसित हुआ है। इस दुखद स्थिति के चलते हालात और भी बिगड़े हैं क्योंकि लोगों के अधिकारों से संबंधित न्यायोचित माँगों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इसके बदले, एक तरफ कानून को थोपने की कोशिशें की गयी हैं, भले ही इसके लिए हिंसक दमन ही क्यों न अपनाया पड़े।

आज न सिर्फ अतीत की इन बेवकूफियों को सुधारा नहीं गया है, बल्कि कानून का खुला दुरुपयोग, या शायद उपयोग करके नये-नये इलाकों को राज्य वन घोषित किया जा रहा है। बड़े-बड़े कृषि क्षेत्र 'वनों' के रूप में पुराने राजस्व अभिलेखों में दर्ज हैं। बड़े-बड़े इलाकों को एक साथ जारी सर्वव्यापी अधिसूचनाओं द्वारा 'राज्य वन' घोषित करके, सरकार ने वन विभाग के लिए उन भूमियों पर रहनेवालों के साथ 'वन अतिक्रमणकारियों' जैसा व्यवहार करना संभव बना दिया है।

वन क्षेत्रों में रहनेवाले आदिवासी समुदायों के अधिकारों से संबंधित जो विरोध और संघर्ष लंबे समय से चले आ रहे हैं उनका कारण एक तरफ तो भारतीय वन अधिनियम की औपनिवेशिक एवं निरंकुश प्रकृति है और दूसरी तरफ प्रासंगिक कानूनों और विनियमों को, खास करके भूमि के वैधकरण से संबंधित कानूनों को, लागू करने में वन विभाग की विफलता है। पिछले कई वर्षों में कई राज्य सरकारों ने वनभूमि पर आदिवासियों और जंगल में रहनेवाले अन्य लोगों के अधिकारों को मान्यता दी है। तदनुसार, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश और राजस्थान तथा अन्य राज्यों में अतिक्रमणों के वैधकरण के आदेश जारी किये गये हैं। लेकिन ये आदेश अकसर अपालित नियम बने रहे या फिर वे इतने नाकाफी हैं कि वे इस बड़ी समस्या का समाधान नहीं बन पाते हैं। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त ने राष्ट्रपति के नाम अपने पत्र (ता. 28 मई 1990) में इस बात पर रोशनी डाली थी। उसके फलस्वरूप पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने छह सर्कुलरों का

एक सेट जारी किया। लेकिन 12 वर्षों तक (2002 तक) इनको कार्यान्वित नहीं किया गया। वन महानिरीक्षक के पत्र (3 मई 2002) ने पाँच महीनों के एक दौर में वह सब पूरा करना चाहा जिसे राज्य एक दशक से अधिक अवधि में भी लागू नहीं कर सका।

हालात की विडंबना तो इस तथ्य में है कि जब अंततः वन विभाग उपरोक्त आदेशों को लागू करने के नजदीक पहुँचा, तब वह अतिक्रमणकारियों को बेदखल करने के उच्चतम न्यायालय के गैर-मौजूद निर्देश को लागू करने में लग गया। अपना कर्तव्य पालन करने में वन विभाग की विफलता के लिए आदिवासियों और ग्रामीण गरीबों को दंडित किया गया। लेकिन तथाकथित अतिक्रमणकारियों को बेदखल करने में वन अधिकारियों का उत्साह कोई अनुचित नहीं था। वन महानिरीक्षक ने स्पष्ट रूप से अपने पत्र में लिखा था कि केन्द्रीय रूप से प्रायोजित स्कीमों के तहत बनाई गई कार्ययोजना और उसके लिए निधि का अनुमोदन अतिक्रमणकारियों की बेदखली में दिखायी गयी प्रगति पर निर्भर करेगा। और इसलिए 3 मई 2002 के बाद वन विभाग ने सभी "अतिक्रमणकारियों" को बेदखल करने के अभियान को तेज कर दिया।

जन प्रतिरोध

इसी संदर्भ में जन आंदोलन और जन संगठन पूरे देश में बेदखलियों का प्रतिरोध करने के लिए संगठित होने लगे। कुछ संगठनों ने उच्चतम न्यायालय में मामले में मध्यक्षेप दायर किये और अन्य कइयों ने केन्द्रीय सशक्तीकृत कमिटी (सीईसी) के समक्ष आवेदन दायर किये। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रतिवाद प्रदर्शनों, जेल भरो आंदोलनों और वन विभाग द्वारा जारी की गयी बेदखली की नोटिसों की प्रतिक्रिया में दिये गये लिखित उत्तरों के माध्यम से जमीन पर किये गये संगठित प्रतिरोध ने इस मुद्दे पर जनता की राय को यह कहते हुये मजबूती से स्पष्ट कर दिया कि "जंगलों के बिना आदिवासी नहीं हैं और आदिवासियों के बिना जंगल नहीं। हम एक हैं। हम अपने अधिकारों को नहीं छोड़ेंगे। हमें बेदखल करने की कोशिश करके देख लो!"

महाराष्ट्र में विभिन्न संगठनों के सामूहिक प्रयासों के चलते महाराष्ट्र सरकार 10 अक्टूबर 2002 को एक सरकारी संकल्प जारी करने पर मजबूर हुई जिसमें ग्राम स्तरीय कमिटियों द्वारा सभी आदिवासी कृषकों के दावों की जाँच करने के लिए एक कालबद्ध कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। प्रतिरोध को देखते हुए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय कदम पीछे हटाने के लिए मजबूर हुआ। तदनुसार 30 अक्टूबर 2002 को वन महानिरीक्षक ने एक और पत्र जारी किया जिसमें कहा गया कि सिर्फ एक प्राथमिक अपराध रिपोर्ट (यह सूचित करते हुए कि वन विभाग ने 1980 के पहले के अतिक्रमण का एक मामला दायर किया) की



पुनर्वसन संघर्ष समिति, गुजरात

एक मात्र कसौटी वैधकरण के दावे पर विचार करने के लिए काफी नहीं होगी। आंध्रप्रदेश में शक्ति नामक एक संगठन द्वारा बेदखलियों के खिलाफ दायर एक याचिका (सं. 20936, वर्ष 2002) पर कार्रवाई करते हुए उच्च न्यायालय ने राज्य सरकार को वनभूमियों से आदिवासियों को बेदखल करने के प्रस्तावों के सिलसिले में यथास्थिति बनाये रखने के लिए निर्देश दिया।¹ फिर भी जिन क्षेत्रों में लोगों का संगठन कमजोर था वहाँ वन विभाग अपनी उदंडता जारी रखी।

वन विभाग द्वारा आदिवासियों और अन्य वन समुदायों के जनतांत्रिक अधिकारों का घोर उल्लंघन जारी रखना एक गंभीर चिंता का विषय बना हुआ है। इसी संदर्भ में कई समूहों ने एकजुट होकर इज्जत के साथ जीने का अभियान (Campaign for Survival and Dignity) नाम से एक मंच का गठन किया और जारी संघर्ष में एक कदम के रूप में 19-20 जुलाई 2003 को एक जन सुनवाई का आयोजन किया। जन सुनवाई के सामने दो लक्ष्य थे। पहला, व्यापक समाज के ध्यान को - सुनवाई में पैनेलिस्टों के माध्यम से - इस बात की ओर आकर्षित करना कि क्यों आदिवासी और अन्य वनों में रहनेवाले समुदाय यह मानते हैं कि उनको वनों में अपने निवासस्थलों में रहने का अधिकार है। दूसरा, जन सुनवाई एक ऐसी समझ विकसित करना चाहती थी जो दोनों वनों का संरक्षण और वनों में अपने निवास स्थलों में आदिवासी समुदायों के लिए गरिमा के साथ जीना सुनिश्चित करे।

फुटनोट :

¹ वन महानिरीक्षक ने इस बात की भी सिफारिश की कि वन संरक्षक की अध्यक्षता में प्रत्येक जिले में एक कमिटी का गठन किया

जाये जिसमें जिला कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक को सदस्यों के रूप में शामिल किया जाये, और यह कमिटी असरदार कदम उठाने के लिए हर तिमाही में एक बार बैठक करे। उन्होंने यह सिफारिश भी की कि वन अधिकारियों को प्रासंगिक अधिनियमों के अंतर्गत ऐसी शक्तियाँ दी जायें कि वे वनांचल के स्तर पर अतिक्रमणकारियों पर विचार कर सकें और एक कालबद्ध पद्धति में संक्षिप्त विचारण द्वारा बेदखली की प्रक्रिया पूरी करने के लिए यथोचित कदम उठायें।

² संख्या 1-1/सीईसी/2002, ता. 20.6.2002, अधिसूचना सं. 2, याचिका संख्या 202/95 और 171/96 में भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा गठित केन्द्रीय सशक्तीकृत कमिटी (सीईसी) के लिए नियम और प्रक्रियाएँ (देखें जिल्द 2, खंड 2, दस्तावेज 9.1)।

³ वही, अधिसूचना सं. 1-1/सीईसी/एससी/2002, ता. 3.6.2002, सीईसी में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के तीन अधिकारी और एनजीओ से 2 प्रतिनिधि मनोनीत किये गये (देखें जिल्द 2, खंड 2, दस्तावेज 9.1)।

⁴ यह वन संरक्षण अधिनियम 1980 के अनुसार था जो यह निर्दिष्ट करता है कि केन्द्र सरकार की अनुमति के बिना 25 अक्टूबर 1980 के बाद कोई भी वनभूमि गैर-वन उपयोग में अंतरित नहीं की जा सकती है।

⁵ यह सर्कुलर 1980 के पहले के अतिक्रमणों से संबंधित है (देखें जिल्द 2, खंड 1, दस्तावेज 3.1)।

⁶ दि हिंदू, 25 अक्टूबर 2002

जन सुनवाई की रिपोर्ट (19-20 जुलाई 2003)
इज्जत से जीने का अभियान



तस्वीर : सौमित्र घोष

रोमा

भारत सरकार के बंधुआ मजदूर टोगीयां काश्तकार

8 अप्रैल 2003 को एक विशाल जुलूस उत्तरांचल की राजधानी देहरादून में विधान सभा की ओर मार्च करते हुये नारे लगा रहा था। जुलूस के सबसे आगे जमषीदा अपने संगठन गंगा खादर वन मजदूर किसान मोर्चा का झंडा उठाये जोरों से चिल्ला रही थी 'टोगीयां कातकारों को जमीनों का हक दो'।

जुलूस के रूप में महिलायें जिस षक्ति से आगे बढ़ रही थीं उसने देहरादून के व्यस्त जीवन को एक क्षण के लिये जहाँ का तहाँ रोक दिया। शहर निवासी इस बात पर सोचने पर मजबूर हो गये कि ये कौन लोग हैं, जो आज देहरादून को घेरे हुए हैं। ये टोगीयां क्या है जिसके बारे में आज तक नहीं सुना ?

वास्तव में टोगीयां शब्द आज तक न कहीं सुना गया, न कहीं पाठ्यक्रमों में पढ़ाया गया, परन्तु ऐसे गांवों की एक ताकतवर आबादी का सड़कों पर उतर आना जरूर यह बात बताता है कि टोगीयां से जुड़े और कितने लोग होंगे। जो महिलायें सड़क पर नारे लगा रही थीं वे हरिद्वार, देहरादून जिलों के गांवों से आई थीं।

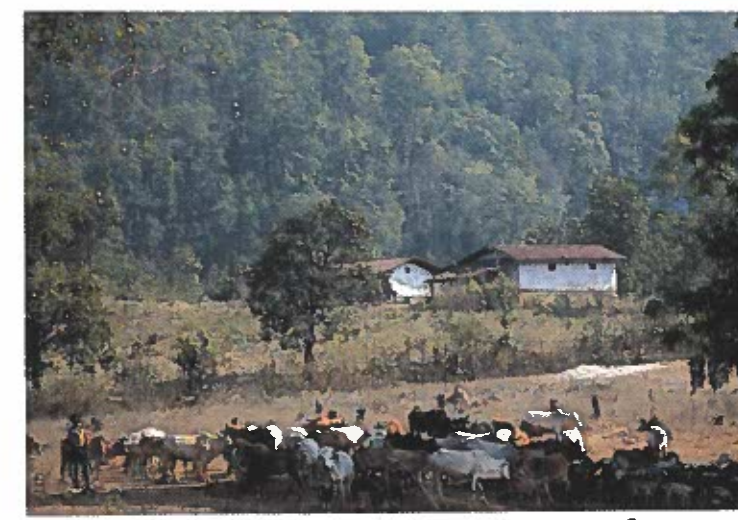
टोगीयां गांव ऐसे गांवों को कहा जाता है जिनका काम जंगल लगाना था, व जिन्होंने हजारों एकड़ जंगलों को पूरे देश भर में आबाद किया। गौरतलब है कि इन गांवों को अंग्रेजों ने बसाया था, जिनकी तादाद पूरे देश में 7000 के लगभग है। इन गांवों

में रहने वाले लोग अत्यंत ही गरीब, पिछड़े और साधनविहीन हैं जो समाज के निर्बल वर्ग से व श्रमजीवी तबके से आते हैं यानी दलित, मुस्लिम, पिछड़े व आदिवासी। ये गांव ऐसे हैं जहां आज तक स्वास्थ्य, शिक्षा, सड़क, बिजली आदि की सुविधा तो मुहैया है नहीं बल्कि देश की आजादी के 55 वर्ष बाद भी इन गांवों को राजस्व गाँव का दर्जा प्राप्त नहीं है। आज भी ये गांव पास के राजस्व ग्रामों के लिये वोट डालते हैं न कि अपने लिये। वोट डालने का अधिकार भी इन गांवों को महज तीस वर्ष पहले ही मिला। संसद, विधानसभा, जिलापंचायत, व ग्राम पंचायत के वोट सभी पार्टियों ने इनसे बटोरे परन्तु आज तक यह मामला न विधानसभा और न ही संसद में उठा। इन गांवों का माईबाप आज भी वन विभाग है, न कि इस देश की सरकार। राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय सम्पत्ति में करोड़ों अरबों का योगदान देने वाला यह साधारण श्रमजीवी तबका उलटे गोली का निषाना बना, व बेदखली का विरोध करने पर पुलिस के अत्याचारों का शिकार हुआ। यहां यह सवाल उठता है कि इन गांवों में केवल निर्बल वर्ग के तबके ही क्यों हैं और यह मसला आज तक राजनैतिक एजेंडे में क्यों नहीं लाया गया ? इसे समझने के लिये वनों में उपनिवेशी कानूनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना होगा।

भारत में वनों में उपनिवेशी कानूनों का जारी रहना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज हमारे देश में वन सम्बन्धी जितनी भी नीतियाँ व कानून बने हुए हैं वे ब्रिटिश हुकूमत के समय से चलते हुए आज भी आजाद भारत में लागू हैं। यह उल्लेखनीय है कि वन सम्बन्धी कानून सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखकर कतई नहीं बनाए गये बल्कि इनका मकसद जंगलों पर राज्य के नियन्त्रण को बाकायदा मजबूत करना था ताकि नये उद्योगों को स्थापित करने के लिए कच्चा माल आसानी से उपलब्ध हो सके व प्राकृतिक संसाधनों पर आसानी से बड़े-बड़े उद्योगों की पहुँच बढ़ सके। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में बड़े पैमाने पर जंगलों का दोहन रेलवे की पटरियों के लिए स्लीपर व संचार माध्यमों के विस्तार के लिए हुआ। औद्योगिक इकाइयों की बढ़ती अनियंत्रित माँग को पूरा करने के लिए अनेक नई कम्पनियाँ कच्चे माल के लिए जंगलों के क्षेत्रों में उतरतीं व इन्हीं कम्पनियों के माध्यम से ठेकेदारों का एक नया जमात पैदा हुआ और आज तक यह जमात कायम है।

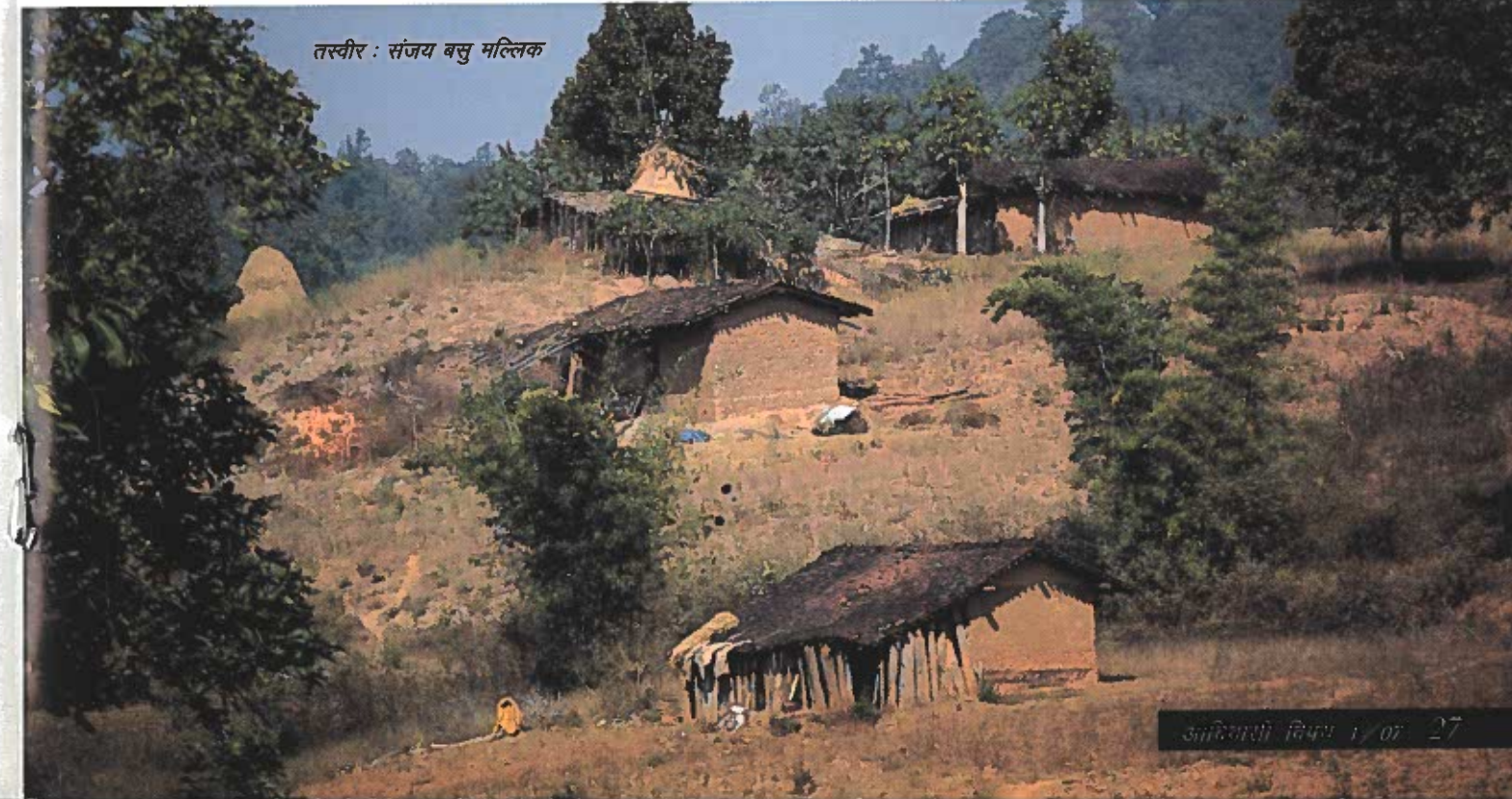
उपनिवेशी हुकूमत के वन कानूनों का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू जनता को जंगल से बेदखल करना था व उनके तमाम परंपरागत अधिकारों को खत्म करना था ताकि ये ही स्थानीय वनवासी देश में हो रहे औद्योगिक इकाइयों के विकास के लिए सस्ते मजदूरों के रूप में उपलब्ध हो सकें। इस सच्चाई को बिल्कुल भी नकारा नहीं जा सकता कि सभी वननीतियाँ और कानून वनों की सुरक्षा, संरक्षण व प्राकृतिक संसाधनों के विकास के लिए नहीं बनाए गये थे, बल्कि उनका मुख्य मकसद राज्य के लिए वनों में कानूनों द्वारा दखलंदाजी को आसान कर वन सम्पदा पर एकधिकार स्थापित करना था और स्थानीय वन श्रमिकों,



तस्वीर : संजय बसु मल्लिक

आदिवासियों की भूमिका एवं अधिकारों को सीमित कर उन्हें जंगलों से बाहर खदेड़ना था।

यह बात उल्लेखनीय है कि जंगलों का दोहन व जंगलवासियों को जंगलों से बेदखल करने का सिलसिला अन्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी 19वीं सदी के मध्य से प्रारम्भ हो चुका था। चूँकि अंग्रेज अपनी वनसम्पदा को समाप्त कर चुके थे और अपनी हुकूमत की आर्थिक प्रोन्नति के लिए उन्हें दक्षिण एशिया के जंगलों में अपनी पूरी अर्थव्यवस्था में भारी आर्थिक इजाज़ा करने के लिए भारी मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता पड़ी, इसलिए उन्होंने तमाम दक्षिण एशियाई देशों में रेलवे प्रसार एवं औद्योगीकरण के लिए बड़े पैमाने पर जंगलों का दोहन शुरू किया। जंगलों की बेइन्तहा तबाही के पश्चात अंग्रेजों ने यह भलीभाँति महसूस कर लिया था कि इस वन सम्पदा के अनियंत्रित दोहन से भविष्य में कच्चेमाल का अभाव हो सकता है, व स्थानीय जनता के बढ़ते रोष व असंतोष को देखते हुए अंग्रेजों की हुकूमत ने वनीकरण



तस्वीर : संजय बसु मल्लिक

की योजना बनाई। इस कार्य से अंग्रेज नावाकफि थे इसलिए उन्होंने जर्मन सलाहकारों को आमंत्रित किया जो वैज्ञानिक वनीकरण में निपुण थे।

बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक वनीकरण करने के लिए टोगियां गांवों को बसाया गया।

वनों के पूरे इतिहास में खास तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के समय से देखें तो दक्षिण-पूर्व एशिया में यानी बर्मा, इन्डोनेशिया, जापान, फिलिपाइन्स, भारत, नेपाल, चीन इत्यादि में बड़े पैमाने पर जंगल को दुबारा आबाद व पुनर्जीवित करने के लिए वन टोगियां गाँव बसाये गए। वन टोगियां ने हजारों लाखों हेक्टर जंगल अपनी वर्षों की कड़ी मेहनत से आबाद किये। भारत के संदर्भ में आजादी के 50 साल बाद भी भारतीय सरकार ने वन टोगियां को बंधुवा मजदूरों की तरह जंगल लगाने में लगाये रखा, और उन्हें जीवन की तमाम सुविधाओं, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखा। हमारी सरकार ने भी बर्तानिया हुकूमत के उसी शोषण पर आधारित प्रथा को जारी रखा। इतिहास गवाह है कि ब्रिटिश हुकूमत ने भारत में शासकीय बेगारी कराने के उद्देश्य से बंधुवा मजदूरों को जबरन प्रोत्साहित किया। उस समय तीन तरह के बंधुवा मजदूर अस्तित्व में लाये गये : एक गिरमिटिया मजदूर, दूसरा-तीनकोठिया और तीसरा- वनटोगियां।

गिरमिटिया मजदूर भारत के वे मजदूर थे जिन्हें अपनी मातृभूमि से विलग कर अंग्रेजों द्वारा अन्य ब्रितानिया उपनिवेशों जैसे-मारीषस, फ्रेंच गुयाना, त्रिनिदाद ले जाया गया। लेकिन इन गिरमिटिया मजदूरों की दशा उनकी मेहनत और उससे निकले पसीने के फलस्वरूप न सिर्फ सुधरी बल्कि कालान्तर में इन उपनिवेशों के स्वतंत्र होने के पश्चात वहाँ की राजनीति भी उनके हाथ में आयी। 'गिरमिटिया मजदूरों' ने उन देशों की राजनीति में न सिर्फ अपने आप को स्थापित किया बल्कि अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर को अक्षुण्ण बनाये रखा व आर्थिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति की।

इसी तरह **तीनकोठिया मजदूर** वे बंधुवा मजदूर थे, जिन्हें ब्रिटिश हुकूमत के काले कानूनों के तहत पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के काष्ठकारों की जमीन पर नील की खेती करने के लिए बाध्य किया गया। इस खेती में जो भी उपज होती उसे अंग्रेज कोठीवालों के हाथों बेचना पड़ता, जिसकी कीमत भी वे ही तय करते थे। नील खेती कानून के उल्लंघन की सजा कठोर थी, लिहाजा काष्ठकार तबाह हो जाते थे। लेकिन भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में महात्मा गाँधी के दक्षिण अफ्रीका से अपना वतन लौटने के पश्चात उनका चम्पारण सत्याग्रह तीनकोठिया मजदूरों के लिए एक तरह से बंधुवा मजदूरों से मुक्ति का आन्दोलन रहा। चम्पारण के काष्ठकारों का तीनकोठिया प्रणाली के खिलाफ संघर्ष स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अंकित है। और इसी तरह बंधुवा मजदूरों की एक जमात थी **वनटोगियां**, जो आज

भी अपनेआप को इस देश का नागरिक कहलाने के लिए लड़ रहे हैं। इनकी कहानी बहुत विचित्र एवं अचभित कर देने वाली है।

टोगियां गाँवों की उत्पत्ति- ऐतिहासिक पहलू

टोगियां गाँवों की उत्पत्ति बर्मा से लगभग 1800 ई0 के मध्य में हुई। टोगियां शब्द बर्मी शब्द है और वनों को पुनः उगाने के लिए व पहाड़ों पर अल्पकालिक खेती के लिए इस्तेमाल उनका किया जाता है। बर्मा की भाषा के अनुसार ऑंग का तात्पर्य पहाड़ है 'या' खेती करना है, इसलिए इस पद्धति का नाम टोगियां पड़ा। बर्मा में टोगियां पद्धति में जंगलों को पुनः आबाद करने के लिए स्थानीय कृषि की परम्परागत झूम पद्धति के साथ अनुकूल किया गया था। इस पद्धति ने वनों को लगाने के नये तरीके को जन्म दिया जिसमें वृक्षों के लिए क्यारियाँ बनाकर, क्यारियों के बीच में फसल उगाना था। चूँकि बर्मा में स्थानीय कृषि की झूम पद्धति के चलते, जंगलों का कटान बढ़ता जा रहा था, इसलिए इस झूम पद्धति को समाप्त करने के लिए व वनों को पुनः आबाद करने के लिए टोगियां पद्धति को शुरू करने का श्रेय एक जर्मन वैज्ञानिक **डाइटिच ब्रेनडिस** को जाता है। बर्मा में भी उस समय बरतानियाँ हुकूमत थी और श्री ब्रेन्डीस सन् 1856 से 1862 तक जंगलात विभाग के अफसर थे। उनके हाथों में पेगू 'बर्मा' के सागवान जंगल का प्रभार था। सन् 1864 में उन्हें लाकर भारत में बरतानिया हुकूमत में पहला जंगलात विभाग का इन्स्पेक्टर जनरल बनाया गया। ब्रेन्डीस जर्मनी के फॉरेस्टर रहे। वे जर्मनी में पेड़ों के साथ फसलों को उगाने के बारे में जानकारी रखते थे। इसी जानकारी व अनुभवों के तहत बर्मा में वनों को क्षति होने से रोकने के लिए उन्होंने जर्मनी में अपनाये गये तरीकों को टोगियां की शकल में अपनाया। यह बिलकुल साफ था कि यह पद्धति खास तौर पर व्यावसायिक पेड़ों को लगाने के लिए शुरू की गयी थी, ताकि कुछ राजस्व प्राप्त हो सके और इमारतों और उद्योगों के लिए पर्याप्त लकड़ी उपलब्ध हो सके (गाजासेनी)। इसमें एक बात उल्लेखनीय है कि टोगियां पद्धति द्वारा प्लांटेशन (व्यावसायिक वनीकरण) बड़े पैमाने पर पहले विश्व युद्ध के बाद बढ़ा।

भारत में टोगियां पद्धति की शुरुआत

भारत में टोगियां पद्धति की शुरुआत सन् 1920 के आसपास हुई। उस समय बर्तानिया हुकूमत को भारी व्यावसायिक वृक्षों की जरूरत पड़ी- और उद्योगों और कारखानों की स्थापना करने और उनमें कच्चे माल की पूर्ति करने के लिए। जिस तरह से बर्मा में टोगियां पद्धति की शुरुआत की गई, उसकी तकनीक को दोहराते हुए श्री ब्रेनडिस ने वहीं पद्धति भारत में भी लागू की। इनका उल्लेख नैनीताल में हुए पहले टोगियां कान्फ्रेंस में मिलता है, जिसमें यह स्पष्ट तौर पर तय हुआ कि टोगियां पद्धति में मजदूरों को वनों के आस-पास बसने वाले गाँवों से लाया जाए। ज्यादातर ये मजदूर जिन गाँवों से लाये गए वहाँ वे मुख्यतः या तो भूमिहीन

थे या फिर जमींदारों/बड़े काष्ठकारों की खेतों पर बेगारी करते थे। इन मजदूरों को जंगलों के अन्दर प्लांटेशन कार्यों के लिए बसाया गया। वृक्षरोपण की मजदूरी के एवज में उन्हें प्रति परिवार एक एकड़ भूमि दी गई, ताकि वे उस जमीन से परिवार का पालन-पोषण कर सकें एवं स्थायी रूप से वृक्षरोपण के कार्य की भी देख-रेख कर सकें। टोगियां काष्ठकारों को भूमि के प्लॉट बाँटे जाते थे, जिन पर उन्हें पाँच वर्ष तक पेड़ों की देख-रेख व परवरिश करना होता था। इन क्यारियों के बीच की जगह फसल उगाकर उन्हें अपनी जीविका चलानी होती थी। इस प्रकार फसल उगाने का बहुत बड़ा फायदा यह था कि यह पद्धति जमीन को अधिक उपजाऊ व उर्वरक बनाती थी। और ये प्लॉट व्यावसायिक पेड़ों जैसे- साल, शीषम, खैर, सागवान, यूकलिप्टस इत्यादि की बढ़त के लिए अच्छा साबित होते थे। पाँच साल में जब पेड़ों की अच्छी वृद्धि हो जाती थी तब उसके पश्चात टोगियां काष्ठकारों को अन्य प्लॉट पुनः पाँच वर्ष के लिए किसी और जगह दिया जाता था जहाँ उन्हें वही प्रक्रिया दुहराकर वृक्षों को पालने की जिम्मेदारी निभानी पड़ती थी। टोगियां काष्ठकारों द्वारा वनीकरण का यह तरीका काफी कारणों से एक योजना थी, जिससे हजारों एकड़ बंजर वनभूमि, टोगियां काष्ठकारों की सस्ती मजदूरी व उनकी परम्परागत जानकारी से प्लांटेशन जंगल में बदल गई। हमारे देश में तकरीबन 7000 टोगियां गाँव हैं। इन गाँवों को अलग-अलग नामों से भी जाना जाता है जिनमें अधिकतर टोगियां उत्तर प्रदेश के सहारनपुर, हरिद्वार, गोरखपुर, महाराजगंज, गोडा, बहराइच, हलद्वानी, नैनीताल, रामनगर और पीलीभीत में हैं। इनके अलावा भारत में टोगियां एवं वनग्राम मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश, केरल, आसाम, तमिलनाडु, पं0 बंगाल, महाराष्ट्र, अंडमान एवं नीकोबार द्वीप समूह में मौजूद हैं।

इन सभी प्रदेशों में टोगियां पद्धति लगभग एक ही समय लागू हुई व उनका स्वरूप भी बिल्कुल एक जैसा ही था। सिवाय मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ के जहाँ राजस्व ग्रामों को ही ब्रिटिश हुकूमत ने रिकार्डों में हेराफेरी कर वनग्राम घोषित कर दिया। खेती की भूमि के अलावा टोगियां गाँवों को वन विभाग द्वारा स्वास्थ्य एवं शिक्षा की सुविधा भी उनके तथाकथित विकास के नाम पर उपलब्ध थी। चूँकि ये गाँव राजस्व ग्राम के अन्तर्गत नहीं आते थे, इसलिए इनके विकास की जिम्मेदारी वन विभाग को सौंपी गयी थी। वनीकरण के साथ-साथ टोगियां काष्ठकारों की अन्य जिम्मेदारियाँ भी थीं जिनमें उन्हें व्यावसायिक पेड़ों को काटना, सड़क बनाना, फायर लाइनों की सफाई करना, बरसातों के बाद सड़क बनाना इत्यादि काम करने पड़ते थे। यह प्लांटेशन की प्रक्रिया 60 के दशक तक चलती रही, उसके पश्चात जंगल के तमाम व्यावसायिक कार्यों को स्थानीय ठेकेदारों को सौंप दिया गया। ये ठेकेदार पूरे वन सम्बन्धी व्यवस्था में नये तरीके की शोषण की शक्तियां बन कर आये। इन ठेकेदारों ने टोगियां काष्ठकारों

का इस्तेमाल करना बन्द कर दिया। ठेकेदार अन्य क्षेत्रों से मजदूरों को लाकर जंगलों में पेड़ लगाने का ही नहीं बल्कि अन्य लघु वनोपज एकत्रित करने का भी काम करवाने लगे। इस तरह से टोगियां काष्ठकारों को रोजगारों के अभाव व अन्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। उसी दौर में वन विभाग ने यह दर्शाया कि अब उन्हें टोगियां काष्ठकारों की जरूरत नहीं है। टोगियां गाँव की त्रासदी तब और बढ़ी जब सन् 1980 में इन्हें प्राप्त नाममात्र की सुविधाएँ यानी स्वास्थ्य एवं शिक्षा की सुविधाएँ वन विभाग ने पूर्ण रूप से बन्द कर दी।

टोगियां गाँव में प्राइमरी स्कूल चलाने की जिम्मेदारी वन विभाग की थी जो कि अंग्रेजी हुकूमत के दौरान पहले टोगियां कान्फ्रेंस की प्रस्तावना थी। नये तरह की व्यावसायिक वन व्यवस्था ने टोगियां काष्ठकारों की जंगल में बारे में परम्परागत जानकारी को पूर्ण रूप से नकारा और वन विभाग को ये काष्ठकार अन्ततः बोझ लगने लगे जिससे इन गाँवों को बसाए रखने में उनकी कोई खास दिलचस्पी नहीं रहीं। यहाँ तक कि सन् 70 के दशक की शुरुआत से ही वन विभाग ने इन लोगों का शोषण और तेजी से करना शुरू कर दिया। 60-70 साल उस भूमि पर रहने के बावजूद टोगियां के लोगों को पक्के मकान बनाने का कोई अधिकार नहीं था और न ही इन्हें वोट देने का अधिकार मिला था। कहीं-कहीं टोगियां ग्राम को पंचायत के चुनाव के लिए पास के राजस्व गाँव से जोड़ा गया, परन्तु इससे टोगियां गाँव को कोई लाभ नहीं मिला क्योंकि राजस्व गाँव की पंचायत को मिलने वाली सभी सुविधाओं से टोगियां गाँव हमेशा वंचित रह जाते।

टोगियां काष्ठकारों को इस वनभूमि से बेदखल करने से पहले वन विभाग ने टोगियां स्कूलों को बन्द करवा दिया। स्कूल बन्द करने के पीछे वन विभाग की क्या रणनीति थी उसका उल्लेख हमें गोरखपुर के वर्किंग प्लान सन् 1980 से मिला जहाँ पर एक जगह मुख्य वन संरक्षक ने साफ कहा कि 'टोगियां बच्चों को शिक्षा न दी जाये, नहीं तो ये पढ़लिख कर अपने अधिकारों की माँग करेंगे (गोरखपुर वर्किंग प्लान)।

यह इस समय तक पूरी तरह साफ हो चुका था कि व्यावसायिक ढंग से वनीकरण करने में वन विभाग व ठेकेदारों को भारी मुनाफा मिलता था और टोगियां काष्ठकार इस मुनाफे में बाधा थे। इसलिए वन विभाग ने इन लोगों को अधिकार देने के बजाय ठेकेदारी प्रथा को और मजबूत किया, व धीरे-धीरे टोगियां काष्ठकारों के सभी अधिकारों एवं रियायतों को समाप्त कर दिया। आखिरकार टोगियां गाँवों को बेदखल करने के लिए विभाग ने राज्य द्वारा सन् 1985 में टोगियां गाँवों को जगह खाली करने के लिए नोटिस जारी किया। हरिद्वार व गोरखपुर जिलों में यह आदेश एक ही समय पर जारी किया गया।

काष्ठकारों का जन-आन्दोलन

गोरखपुर के वन विभाग के अधिकारियों व कर्मचारियों ने तो वन टोगियों पर उत्पीडन की हद कर दी। तमाम टोगियां ग्रामों

की बेदखली का आदेश दिया गया। गाँव उजाड़े जाने लगे। फसलें ट्रैक्टर से रौंद दी गयीं। गोरखपुर के तिलकोनियां वन ग्राम में 6 जुलाई 1985 को वह घटना घटी जो इतिहास के पन्ने में कलंक के रूप में अंकित हुई। वन रेंज अधिकारी विजय प्रताप सिंह के नेतृत्व में नौ वन कर्मियों ने खेत में काम कर रहे वन टोगीयां किसानों पर गोलियाँ चलाई। लाठी, डण्डे और असलहे से लैस वन कर्मियों ने वन टोगीयां परिवारों के घरों को फूँक दिया। फायर एवं मार से करीब 27-28 वन टोगीयां किसान बुरी तरह से घायल हो गये। जिला न्यायालय ने नौ अभियुक्तों को लगभग 6 वर्ष पञ्चात 31 दिसम्बर 1991 को आजीवन कारावास की सजा मुकदमा की। महाराजगंज के कम्पार्टमेंट 24 वन ग्राम में वन अधिकारियों की मौजूदगी में पूरे गाँव में लूट-पाट की गयी। फसलों पर ट्रैक्टर चलवा दिया गया तथा लोगों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। इसी तरह कैम्पियरगंज के 'भारी वैसी' वन ग्राम में भी फसलें रौंदी गयीं तथा लोगों को थानों में पीटा गया।

वन विभाग के इस उत्पीडन से त्रस्त वन टोगीयां ने तत्पश्चात जिला न्यायालय में अपनी ज़मीन के लिए दावा किया। वहाँ ज्यादा कुछ हासिल न होता देख वन टोगीयां ने उच्चतम न्यायालय में अपनी जमीनों के लिए लड़ने की तैयारी की। इसी तरह 1985 में उत्पीडन के शिकार हरिद्वार के टोगीयां गाँव हरिपुर, भगवतपुर, टीरा, हजारा, कालूवाला, रसूलपुर भी हुए। अधिकारियों ने एक साथ इन गाँवों में हमला बोला व गाँववालों को अपने घरों को खाली कर ट्रक में सामान भरने के लिए बाध्य किया। उसके जवाब में वहाँ की तमाम महिलाओं एवं पुरुषों ने पी. ए. सी. से जमकर मुकाबला किया और वहाँ से पुलिस को भगा दिया। इस स्थिति से निपटने के लिए सन् 1986 में टोगीयां वासियों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की मदद से उच्चतम न्यायालय में वन विभाग के खिलाफ मुकदमा दायर किया। इस मुकदमे में गरीब टोगीयां निवासियों का लाखों रुपया बरबाद हुआ, मुकदमा चार साल तक चला और सन् 1990 में उच्चतम न्यायालय द्वारा फैसला दिया गया। फैसला मुख्यतः राज्य के हक में ही था, टोगीयां निवासियों को सिर्फ स्टे आर्डर मिला। आर्डर में यह बात स्पष्ट लिखी गई कि जब राष्ट्रीय उद्यान पूरी तरह से घोषित हो जाएगा तब इन गाँवों को उठना पड़ेगा (गाँव राजाजी राष्ट्रीय उद्यान में आते हैं)। चूँकि अभी पार्क प्रस्तावित है इसलिए इन टोगीयां गाँवों पर जबरदस्ती नहीं हो पायी। इस दौरान वन विभाग भगवतपुर टोगीयां गाँव को उठाने में कामयाब हुआ।

टोगीयां गाँवों पर स्थानीय जनसंगठन घाड़ क्षेत्र मजदूर संघर्ष। समिति व विकल्प सामाजिक संगठन ने भारतीय लोक प्रशासन संस्थान के सहयोग से पूरे राजाजी राष्ट्रीय उद्यान क्षेत्र में हो रही समस्याओं पर सन् 1993 'जनवरी-अप्रैल' में एक गहन अध्ययन किया था। इसी रिपोर्ट में टोगीयां समस्याओं पर स्थानीय स्तर पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आधारों पर आंकड़े

इकट्टे किये गये थे जिसमें पाया गया कि टोगीयां गाँवों में सभी निम्न व पिछड़ी जाति के लोग रहते हैं जिनका प्रतिषत इस प्रकार था— दलित 61.2 प्रतिषत, मुसलमान 'निम्न जाति' 8.4 प्रतिषत, पिछड़े 30.4 प्रतिषत। इन टोगीयां गाँवों में 33 प्रतिषत भूमिहीन, पट्टेधारी '75.2 प्रतिषत' थे और सिर्फ 9.6 प्रतिषत के पास 10-25 बीघा जमीन थी।

भगवतपुर टोगीयां को सन् 1986 को विस्थापित किया गया जिससे उनकी स्थिति और भी दयनीय हो गयी। जिस जमीन पर उन्हें बसाया गया उस भूमि पर वन विभाग व राजस्व विभाग का झगड़ा था जिसके फलस्वरूप वहाँ पर पुनर्वास होने के पश्चात भी बुनियादी सुविधाएँ जैसे बिजली व पीने के पानी की व्यवस्थाएँ मुहैया नहीं कराई गयी हैं। अभी भी 47 प्रतिषत लोग भूमिहीन हैं और बाकी 53 प्रतिषत को सिर्फ एक पट्टा दिया गया। यहाँ के सभी लोग शहर में मजदूरी कर रहे हैं, और पुनर्वास होने पर अभी भी इनकी स्थिति सुधरी नहीं है।

परन्तु फिर भी संघर्ष जारी रहा व इस संघर्ष ने हरिद्वार व गोरखपुर के टोगीयां गाँवों की स्थिति को मजबूत किया है। इसके बाद से वन विभाग ने इन गाँवों का शोषण करना बन्द कर दिया है। आज यहाँ गाँव बहुत मजबूती से अपने गाँवों को राजस्व ग्राम घोषित करवाने के लिए लड़ रहे हैं।

टोगीयां ग्रामों के मसले पर यह बिल्कुल साफ हो गया कि सरकार टोगीयां काष्ठकारों की बेदखली कर संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन कर रही है जो प्रत्येक नागरिक को जीने व रहने का अधिकार प्रदान करता है। इसका उल्लेख न्यायमूर्ति श्री पी. एस. पोटी ने प्रस्तावित राजाजी पार्क पर भारतीय जनपंचाट की शुरुआती रिपोर्ट में यह कहकर किया कि 'यह खेदजनक है कि जब राष्ट्रीय सरकार ने राजकाज की बागडोर विदेशियों से अपने हाथ में ली तो उन्हें अंग्रेजों द्वारा आदिवासियों के हकों, जिनके साथ वे हमेशा से रहते आए हैं, की मान्यता की नीति पर चलना चाहिए था जबकि भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को जायदाद और रोजगार का अधिकार दिया और इसी के साथ अनुच्छेद 21 के तहत जीवन की गारंटी प्रदान की, लेकिन इन अधिकारों की तरफ ध्यान नहीं दिया गया। परम्परागत और कुदरती हक की जगह पर सरकार विशेष सुविधा या छूट की स्वीकृति देने की इच्छुक रही जिससे उनका दर्जा बाहरी लोगों के बराबर रह जाए और सरकारी यानी वे वन विभाग की दया पर निर्भर रहें।

टोगीयां निवासियों के अति पिछड़े व निहायत ही गरीब होने पर भी एक जागृति इन गाँवों में निश्चित रूप से पनपी है। इन गाँवों ने वन विभाग द्वारा इन्हें बेदखल करने के निर्णयों को पूरी तरह से नकारा है बल्कि दूसरी तरफ ग्रामवासियों ने इन जनविरोधी नीतियों व शोषण के विरुद्ध न्यायिक व राजनैतिक स्तर पर अवरोध प्रदर्शन करना शुरू कर दिया व टोगीयां गाँवों को राजस्व ग्राम घोषित किये जाने की मांग पर आन्दोलन शुरू कर दिया।

जनपद हरिद्वार में राजाजी राष्ट्रीय उद्यान में आयोजित जनपंचाट की रिपोर्ट में न्यायमूर्ति श्री पी. एस. पोटी ने आज से 12 साल पहले 1994 में कहा था "टोगीयां गाँव एक ऐसा गाँव है जिनकी परेशानियों के ऊपर खास गौर किया जाना चाहिए। टोगीयां गाँव ऐसे गाँव हैं जिन्होंने अपनी मेहनत और मशक्कत से कई हेक्टेयर जंगलों को आबाद किया परन्तु जब उन्हें बसाने की बात आयी तब मानवीय दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया। जिन गाँवों में उन्हें बसाया गया वे वनग्राम ही रहे न कि राजस्व ग्राम। अगर इन गाँवों को राजस्व ग्रामों का दर्जा प्राप्त होता तो यहाँ पर भी लगातार विकास के कार्यक्रम चलाये गये होते ताकि कम से कम लोगों को मूलभूत सुविधाएँ प्राप्त होतीं। परन्तु किसी भी सरकार ने इन ग्रामों को राजस्व ग्राम में तबदील करने की कवायद नहीं की और न ही वनविभाग ने इन गाँवों के विकास के लिये कुछ किया। विडम्बना तो यह है कि ये गाँव पंचायत के वोट देने से भी वंचित हैं। तभी किसी भी पंचायत ने इन पर कोई ध्यान नहीं दिया। हरिपुर टोगीयां के ग्राम प्रधान मुन्नीलाल का कहना है कि जनपद हरिद्वार के टोगीयां गाँवों ने लगभग 5250 एकड़ जंगलों को आबाद किया जिसके बदले में उन्हें जोतने के लिए छोटे-छोटे पट्टे मिले थे परन्तु इसके बाद भी सरकार ने उन्हें स्थायी तौर से बसाने के बजाय 1986 में पुलिस फोर्स लगाकर बेदखली की प्रक्रिया शुरू की। इसलिए टोगीयां काष्ठकारों को अगर अधिकार तथा विकास पाना है तो सबसे पहले इन गाँवों को राजस्व ग्रामों का दर्जा देना होगा।"

और आज 12 साल बाद भी टोगीयां, वनग्रामों का यही संघर्ष चल रहा है कि किस तरह से टोगीयां गाँवों को राजस्व ग्रामों का दर्जा दिया जाये।

आखिर इतने लम्बे संघर्ष एवं इंतजार के नतीजे में अंततः इस वर्ष मई 2006 में उत्तरांचल सरकार के प्रस्तावों पर केन्द्रीय सरकार के कैबिनेट ने इन ग्रामों का सर्वे करवाने का आर्डर दिया व 194 गाँवों को राजस्व ग्रामों में बदलने की घोषणा की। यह जीत निश्चित रूप से जन आन्दोलनों की जीत है, जो पिछले 16-17 वर्षों से स्थानीय संगठनों के नेतृत्व में सतत चलता रहा है व पिछले कुछ सालों से वनजन श्रमजीवी मंच के नेतृत्व में चल रहा है। इन सभी गाँवों में सर्वे भी शुरू हो गये हैं।

पूरे देश में वन टोगीयां एवं वनग्रामों को राजस्व का दर्जा दिलाने के लिये हर राज्य में जोरों से आन्दोलन जारी है। छत्तीसगढ़ एवं मध्य प्रदेश में 1342 गाँवों को राजस्व ग्रामों में घोषणा हो चुकी है परन्तु अभी भी केन्द्रीय सरकार ने इस मामले को लटका कर रखा है।

फिर भी संघर्ष जारी है

मौजूदा दौर में जंगलों में रहने वाले चाहे वह टोगीयां, आदिवासी व अन्य समुदायों के लोग हों, उन सब के साथ घोर सामाजिक एवं राजनैतिक अन्याय हो रहा है। इनमें से अधिकतर श्रमिक जो

जंगल से स्व-रोजगार करते हैं उनको श्रमिकों का दर्जा नहीं दिया जाता। पर्यावरण के नाम पर जितने भी नये वन सम्बन्धी कानून पास किये गये वे सभी जीने के रोजगार के बुनियादी अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जमींदारी प्रथा से जुड़े तमाम खेतिहर मजदूरों को दर्जा दिया गया व कुछ हद तक उनके काम करने के अधिकार को सुरक्षित रखा गया। परन्तु जंगलों के आस-पास रहने वाले आदिवासी एवं वन आश्रितों, जो वन श्रमिक भी थे, की भूमिका को कभी भी राजनैतिक रूप से आजादी के आंदोलनों में नहीं पहचाना गया, इसलिए इनके सम्बन्ध में एक उदासीनता भी बनी रही। हालांकि सरकारी आंकड़ों के हिसाब से कुल वनआश्रितों की संख्या केवल एक करोड़ है, परन्तु असलियत में वन आश्रितों की संख्या आठ करोड़ के लगभग है जिनमें से सात करोड़ आदिवासी हैं जो वनों पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं।

इससे भी बढ़ कर, तमाम वन क्षेत्र को भूमि सुधारों से बाहर रखा गया व आजादी के वक्त ही लोगों की निस्तार एवं सार्वजनिक उपयोग की भूमि को वन विभाग को स्थानांतरित कर दिया गया। ऐसे में सरकार द्वारा वन विभाग को सबसे बड़े जमींदार के रूप में बनाये रखने की वजह से आज तमाम वन क्षेत्र में प्रतिषेध की ज्वाला दहक रही है।

इसके साथ-साथ हाल ही में निजीकरण के तहत बहुत बड़े पैमाने पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, व पूँजीपतियों द्वारा जंगलों के आसपास की जमीनों को खरीद कर उन्हें बड़े फार्महाउसों में तबदील किया जा रहा है जिनमें अधिकांश भूमि ग्राम सभा व वनश्रमिकों की है जिससे एक नया खतरा पैदा हो गया है। जंगल में भी इनका कब्जा बढ़ता जा रहा है। ऐसे में नया वनाधिकार विधेयक 2005 अगर संसद में पारित हो जाता है तो क्या वह टोगीयां काष्ठकारों एवं वन ग्रामों को न्याय दिलवा पायेगा? यह हमारे लिये एक बहुत बड़ी चुनौती होगी।

संदर्भ :

1. आषोक चौधरी 'विकल्प', अप्रकाशित - 'हिमालय एवं शिवालिक के प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण एवं नियन्त्रण में स्थानीय जनता की भूमिका' - नीति, कानून एवं क्षेत्रीय विकास।
2. वन टोगीयां विकास समिति 'महाराजगंज' द्वारा प्रकाशित 'हमें अधिकार चाहिए'।
3. गाजसेनी - दक्षिण पूर्वी एशिया में टोगीयां पद्धति।
4. वन टोगीयां विकास समिति, महाराजगंज - जनान्दोलन दस्तावेज़।
5. अध्ययन रिपोर्ट घाड़ क्षेत्र मजदूर संघर्ष समिति एवं भारतीय लोक प्रशासन संस्थान - राजाजी पार्क की समस्याएं व द्वन्द्व।
6. आन्दोलनों के दस्तावेज़ से - घाड़ क्षेत्र मजदूर संघर्ष समिति।
7. न्यायमूर्ति श्री पी.एस.पोटी की 'प्रस्तावित राजाजी राष्ट्रीय पार्क पर भारतीय जनपंचाट 'पर्यावरण व मानवधिकारों' की शुरुआती रिपोर्ट।
8. राष्ट्रीय श्रमिक द्वारा वनश्रमिकों पर प्रस्तावना।

इंडोनेशिया में आदिवासियों के अधिकारों का संघर्ष

इंडोनेशिया दुनिया के सर्वाधिक विविधतापूर्ण राष्ट्रों में से एक है। हजारों द्वीपों में व्याप्त इस देश में सैकड़ों नृजातीय जनों के 22 करोड़ लोग 800 से अधिक भाषाएँ बोलते हैं। इन नृजातीय जनसमूहों में जावा समुदाय देश की आबादी का लगभग 41 प्रतिशत है। दूसरा सबसे बड़ा समुदाय सुंदनियों का है जिनकी आबादी 15 प्रतिशत है। फिर पूर्वी इंडोनेशिया में तो काफी छोटे-छोटे समुदाय हैं जिनकी आबादी मात्र कुछ सौ व्यक्तियों की है। इस विविधता के बावजूद, या इसके कारण, इंडोनेशिया में आदिवासी नृजातीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों से संबंधित कोई सरकारी नीति नहीं है।

सरकार नृजातीयता और नृजातीय विशेषाधिकारों से संबंधित मुद्दों से पक्के तौर पर बचती है, जबकि ये मुद्दे दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की विशेषता है। सरकारी अधिकारी दलील देते हैं कि 'आदिवासी' की अवधारणा इंडोनेशिया में लागू नहीं होती है क्योंकि सभी इंडोनेशियावासी (चीनियों को छोड़कर) आदिवासी (देशज) हैं और इस प्रकार सबके अधिकार समान हैं। उसके बाद, सरकार "आदिवासी जन" के बिल्ले का दावा करने वाले समूहों की उनके साथ विशेष व्यवहार किये जाने की सभी माँगों को ठुकराती है।

आदिवासी अल्पसंख्यकों के लिए विशेषाधिकार देने पर की गयी इन आपत्तियों ने कई समुदायों की अपनी जमीनों पर दखल कायम रखने की क्षमता को बाधित किया है और मुआवजा पाने के लिए किसी खास कानूनी रास्ते की व्यवस्था

नहीं है। हाल के वर्षों में द्वीप समूह के आदिवासी जनों का गठबंधन (जिसे अमन भी कहा जाता है) के नेतृत्व में आदिवासी अधिकार आंदोलन ने देशभर के आदिवासी समूहों की ओर से काम करना शुरू किया है जो आदिवासियों के अधिकारों को बढ़ावा देने और रक्षा करने के उद्देश्य से गठित स्थानीय संगठनों और नेटवर्कों के विकास में मदद करता है। अमन आदिवासी जनों की परिभाषा इस प्रकार करता है : "वे समुदाय जिनके खास भौगोलिक अवस्थानों में पुश्तैनी भूमियाँ हैं और उनकी अपनी स्वभूमियों में उनकी अपनी मूल्य प्रणालियाँ, विचारधाराएँ, अर्थव्यवस्थाएँ, राजनीति, संस्कृतियाँ और समाज हैं।"

आदिवासी अल्पसंख्यक और प्राकृतिक संसाधन

पिछले वर्षों की तरह, इंडोनेशिया में आदिवासी समुदायों द्वारा अभी सामना किये जा रहे कई खतरे पर्यावरण संबंधी मुद्दों से, खास करके इंडोनेशिया के घटते हुए उष्ण कटिबंधीय वनों के भविष्य से, जुड़े हैं। इनमें कानूनी और गैर-कानूनी ढंग से पेड़ों को काटना और ऑयल पाम वृक्षरोपणों का विस्तार शामिल है। ऑयल पाम वृक्षरोपण देश के आदिवासी अल्पसंख्यकों के लिए सबसे बड़ा एक खतरा है। सरकार इंडोनेशिया को दुनिया का सबसे बड़ा कच्चा ऑयल पाम (खाना पकाने में और प्रसाधन सामग्रियों के उत्पादन में प्रयुक्त) उत्पादक बनाने की आशा करता है और उसने ऑयल पाम वृक्षरोपणों के विस्तार को एक प्राथमिकता बनायी है। इन विस्तार योजनाओं में पूरे द्वीप समूह में वृक्षरोपणों के लिए 46 लाख हेक्टर से अधिक भूमि उपलब्ध करना शामिल है। इन विस्तार योजनाओं की सबसे बदतर एक योजना 2005 में चालू की गयी जिसका उद्देश्य बोर्नियो द्वीप पर इंडोनेशिया-मलेशिया सीमा पर 18 लाख हेक्टर जमीन पर ऑयल पाम के पेड़ों के एकल वृक्ष वन लगाना है। यह बड़ी परियोजना इबान जैसे सैकड़ों आदिवासी समुदायों की आजीविकाओं और संसाधनों को, तथा तीन राष्ट्रीय उद्यानों के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है।



दुर्भाग्यवश, ऑयल पाम वृक्षरोपणों का आदिवासी समुदायों पर अकसर विनाशकारी प्रभाव पड़े हैं। ये रोपण अकसर आदिवासियों द्वारा दावा की गयी जमीनों पर किये जाते हैं जिससे जमीन पर भीड़ होती है और लोग अपनी आजीविकाएँ खोते हैं। सरकारी अधिकारी और ऑयल पाम कंपनियों की दलील है कि इन वृक्षरोपणों से ग्रामीण इलाकों में बहु-वांछित विकास, रोजगार और आधारभूत संरचना प्राप्त होगी। लेकिन अकसर फायदों से ज्यादा नुकसान हो जाता है। कई स्थानीय लोगों ने दावा किया है कि भूमि संबंधी झगड़ों के अलावा, इन वृक्षरोपणों के चलते क्षेत्र में रोपण श्रमिकों के प्रवेश से इलाके में जुआ और वेश्यावृत्ति में वृद्धि हुई है और अपनी जमीनों से लोगों के उजड़ जाने के कारण स्थानीय सांस्कृतिक परंपराएँ खतरे में पड़ गयी हैं।

एक सकारात्मक कदम उठाते हुए, इंडोनेशिया के नव-निर्वाचित राष्ट्रपति ने पेड़ों की गैर-कानूनी कटाई को रोकना अपनी 2005 की प्राथमिकताओं में शामिल किया है और इस प्रयास में कई बड़ी कार्रवाइयाँ करके कई दोषियों को गिरफ्तार किया गया है। फिर भी, पेड़ों की अवैध कटाई जोरों से जारी है। इसमें अधिक कटाई आदिवासी समुदायों द्वारा दावा की गयी भूमियों पर उनकी सहमति के बिना की जा रही है। इसके अलावा, सारे देश में बड़े पैमाने पर पेड़ों की कानूनन कटाई भी जारी है और यह भी अकसर आदिवासी समुदायों द्वारा दावा की गयी भूमियों पर होती है। जिस दर पर अभी पेड़ों की कटाई वैध एवं अवैध रूप से चल रही है। उससे इंडोनेशिया अपने बचे हुए वर्षावनों को खो देगा। कुछ अनुमान

दावा करते हैं कि अगर वर्तमान दर पर पेड़ों की कटाई जारी रहे तो इंडोनेशिया में निम्नभूमियों पर अधिकांश वर्षावन अगले 15 वर्षों में गायब हो जायेंगे। अपनी आजीविकाओं के लिए इन्हीं जंगलों पर निर्भर आदिवासी जनों पर इस पारिस्थितिकीय विनाश का एक बड़ा असर पड़ा है।

एक सकारात्मक बात यह हुई है कि अब अधिकाधिक इस बात को मान्यता दी जा रही है कि जैव-विविधता वाली वन संरक्षण परियोजनाओं के एक अंग के रूप में आदिवासी जनों के अधिकारों का सम्मान करना होगा। अतीत में, और अकसर आज के समय, आदिवासी और अन्य स्थानीय समुदायों को राष्ट्रीय उद्यानों या आरक्षित वन्यजीवन क्षेत्रों के रूप में निर्धारित क्षेत्रों से हटाया गया। सरकार और वन संरक्षण संगठनों ने दावा किया कि आदिवासी जैवविविधता के लिए एक खतरा हैं।

इस तरह की बेदखली का समुदायों पर, खासकर वन जनों पर, विनाशकारी प्रभाव पड़ सकता है। अभी लगता है कि इंडोनेशिया की सरकार और साथ में काम करनेवाले अंतर्राष्ट्रीय वन संरक्षण संगठनों का रवैया बदल रहा है। उदाहरणतः, सुमात्रा द्वीप पर जांबी प्रांत में सरकार ने अगस्त 2005 में बुकित दुआबेलास राष्ट्रीय उद्यान के अंदर रहनेवाले वन जनों के एक समुदाय, आरो रिबा, के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किया है। यह समझौता क्षेत्र में उनके दावों और परंपरागत अधिकारों का सम्मान करता है और यह उनको उद्यान में रहने देगा और वनों का उपयोग करते रहने देगा।

इयर बुक : 2005 IWGIA

थाईलैंड की वन-संरक्षण नीतियों पर कारेन जनों की प्रतिक्रिया

चंपोल मणिरतनावोंगसिरि

सदियों से कारेन लोग उत्तरी और पश्चिमी थाईलैंड के जंगलों के साथ सह-अस्तित्व में जीते रहे हैं। उन्होंने ऐसे ग्रामीण ढाँचों और व्यवहार संहिताओं को विकसित किया कि उससे गाँव के दायरों में ही प्राकृतिक संसाधनों का टिकाऊ प्रबंध और उपयोग संभव हुआ। जमीन और अन्य संसाधनों पर ग्रामीणों का नियंत्रण था और स्वामित्व सुरक्षित था। प्रत्येक परिवार को संसाधन उपलब्ध थे और ग्रामीणों के बीच बहुत कम विवाद होते थे क्योंकि आबादी कम थी और प्रचुर संसाधन उपलब्ध थे। लेकिन 1960 के दशक में कारेन जनों की पारंपरिक जीवन-पद्धति में एक बड़ा बदलाव आने लगा जब सरकार ने प्राकृतिक संसाधनों के नियंत्रण और संरक्षण के लिए कानून

बनाये, जिनमें राष्ट्रीय उद्यान अधिनियम और राष्ट्रीय वन संरक्षण अधिनियम भी शामिल हैं।

कारेन समुदायों के चारों तरफ व्याप्त जो वन पहले सामुदायिक सम्पत्ति माने जाते थे, अब उनको संरक्षित क्षेत्र घोषित किया गया। ज्यादातर इन इलाकों में कोई सही सर्वेक्षण नहीं किया गया और किसी सामुदायिक भूमि के राष्ट्रीय उद्यान या आरक्षित वन घोषित कर दिये जाने के बाद ही जाकर स्थानीय उप-जिला प्रमुखों के माध्यम से वानिकी अधिकारी लोगों को इसकी सूचना देते थे (नारिन्तरांकुलं 1996)। जब सर्व प्रथम उनके गाँवों को संरक्षित क्षेत्र घोषित किया गया था तब कारेन जनों की ओर से इसका कोई विरोध नहीं किया गया क्योंकि उनको किसी

कारेन आदिवासियों का झूम खेती, थाईलैंड।
तस्वीर : क्रिश्चियन एर्नी

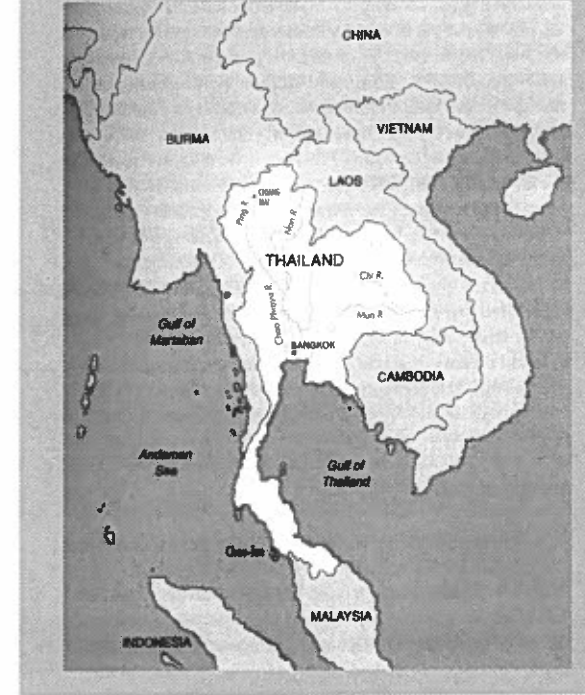
संरक्षित क्षेत्र में रहने के नतीजों के बारे में कोई जानकारी नहीं थी और उनको सरकारी नीतियों का विरोध करने लायक शिक्षा प्राप्त नहीं थी।

जब ये इलाके संरक्षित क्षेत्र घोषित किये गये तब सरकार ने सिर्फ आवासीय एवं सिंचित भूमियों को ही अराजपत्रित किया था, लेकिन झूम खेतीवाली जमीनों को अलग नहीं किया था जबकि ये जमीनें हमेशा ही कारेन जनों की कृषि व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रही हैं। अराजपत्रित क्षेत्रों के लिए भू-दस्तावेज जारी करना जरूरी था। परन्तु अधिकांश मामलों में कारेन गाँवों के बहुत कम भूखंडों के लिए ऐसा कोई दस्तावेज दिया गया। भू-दस्तावेज हासिल न करने का मुख्य कारण यह था कि अधिकांश लोगों ने उनकी जरूरत को समझा नहीं और इसलिए दस्तावेज जारी करने पर जोर नहीं दिया।

1980 के दशक से सरकार ने बड़े पैमाने पर जंगलों की कटाई से होनेवाले सुखाड़ जैसे पर्यावरणीय संकटों से निपटने के लिए और अधिक कानून और विनियम बनाये। जंगलों के उपयोग या पुनर्वास कार्यक्रमों पर प्रतिबंध लगाने जैसी कुछ कार्रवाइयों के चलते कारेन लोगों को काफी कष्ट झेलने पड़े और उनकी गरीबी बढ़ी क्योंकि वे अपनी आजीविका के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर बहुत ज्यादा निर्भर करते हैं। इस आलेख में इस बात की चर्चा की गयी है कि थाई सरकार की वन संरक्षण संबंधी नीतियों का कारेन जनों की रोजमर्रे की जिंदगी पर क्या प्रभाव पड़ा और इन नीतियों के खिलाफ उनकी क्या प्रतिक्रिया थी।

यह आलेख उत्तरी थाईलैंड के चांदनी और सूर्यप्रकाश (छद्मनाम) नामक दो कारेन गाँवों में किये गये शोध पर आधारित है। सूर्यप्रकाश 25 परिवारों और 150 लोगों की आबादी वाला छोटा गाँव है और चाँदनी में 80 परिवार और 406 लोग रहते हैं। सूर्यप्रकाश रॉक राष्ट्रीय उद्यान (छद्म नाम) में अवस्थित है और चाँदनी एक आरक्षित राष्ट्रीय वन में अवस्थित है। अलग किस्म के संरक्षित क्षेत्रों में अवस्थित रहने के चलते इन दोनों गाँवों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं।

थाईलैंड के लगभग 12 प्रतिशत भूभाग पर राष्ट्रीय उद्यान



व्याप्त हैं जिनका उद्देश्य वनों, वन्यजीवों और अनूठे प्राकृतिक परिदृश्यों को बचा कर रखना है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय उद्यानों से संबंधित नीतियाँ इन क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों के हेरफेर और दोहन का निषेध करने पर जोर देती हैं। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय उद्यानों में सभी कृषि कार्य गैर-कानूनी हैं। दूसरी तरफ, आरक्षित राष्ट्रीय वन इससे बहुत अधिक क्षेत्र, राष्ट्रीय भूभाग के लगभग 40 प्रतिशत हिस्से, पर व्याप्त हैं, पर उनमें मौजूदा जंगलों की रक्षा करने के लक्ष्य में ढिलाई बरती जाती है। दर असल, इन आरक्षित वन क्षेत्रों में वनभूमि का एक बड़ा भाग पहले से ही दूसरे

उपयोगों में लगाया जा रहा है और आरक्षित वन क्षेत्रों से संबंधित विनियमों में मौजूदा उपयोगों को जारी रखने की अनुमति है जिसमें सीमित दोहन और आवास शामिल हैं।

वन संरक्षण की नीतियों का असर

राष्ट्रीय उद्यान कानूनों ने कारेन गाँवों में भू-स्वामित्व की सुरक्षा के बारे में आशंकाएँ पैदा की हैं। अनिश्चितता के मनोवैज्ञानिक बोझ के अलावा, संरक्षण नीतियों ने नागरिक अधिकारों पर भी एक स्पष्ट प्रभाव डाला। उद्यान नीतियों के चलते कृषिभूमि में कमी आयी और चावल की कमी हुई।

आवासस्थलों की असुरक्षा

सूर्यप्रकाश और चाँदनी के लोगों के पूर्वज माइ होंग सोन प्रांत से पूर्व की ओर प्रवास करके चियांग माइ प्रांत में आये और एक सौ वर्ष से अधिक समय पहले सूर्यप्रकाश और चाँदनी के घाटी इलाकों में बसे। सरकारी अभिलेखों में यह बात दर्ज नहीं है कि कब सर्वप्रथम ये दोनों गाँव बसे, पर जानकारों ने बताया कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सूर्यप्रकाश बसा और उससे भी पहले, शताब्दी के प्रारंभ से पहले, चाँदनी गाँव बसा।

पिछले एक दशक में संरक्षित क्षेत्रों के सृजन के चलते बहुत-से आदिवासी अनिश्चितता की स्थिति में पड़ गये। नयी संरक्षण नीतियों ने संरक्षित क्षेत्रों में अवस्थित गाँवों के वासिंदों के हाथों से गाँवों के भविष्य पर नियंत्रण छीन लिया। आज संरक्षित क्षेत्रों में रहने वाले कारेन एवं अन्य उच्चभूमि वासी समुदाय अपने

आवास-स्थलों में असुरक्षित महसूस करते हैं। थाईलैंड में कई उच्चभूमिवासी समुदायों को संरक्षित क्षेत्रों से हटाकर नयी जगहों पर बसाया गया है। मैककिन्डोन और वियेनी (1989) ने बताया कि अगस्त 1988 में कोई 5000 लोगों को जबर्दस्ती राष्ट्रीय उद्यानों से बाहर कर दिया गया। हाल के कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं पर समझा जाता है कि संख्या इससे कहीं अधिक होगी।

पुनर्वास का मुख्य प्रयोजन वन संरक्षण बताया जाता है पर थाईलैंड में इसके दूसरे कारण भी हैं। गंजनापुन (1996 : 213) दावा करते हैं कि लांपंग प्रांत में दो मियेन गाँवों को पुनर्वासित करने का कारण कथित संरक्षण नहीं है, बल्कि पर्यटन को बढ़ावा देना है।

सूर्यप्रकाश में हालत खास तौर पर संगीन है जहाँ लगातार अफवाह सुनने को मिलते हैं कि रॉक राष्ट्रीय उद्यान क्षेत्र में गाँवों को हटाकर नयी जगह बसाया जायेगा। सूर्यप्रकाश के लोग पुनर्वास की बात से चिंतित हैं क्योंकि किसी के भी पास भू-स्वामित्व के दस्तावेज नहीं हैं। कानूनी दस्तावेजों के बिना, ग्रामीणों के लिए उद्यान अधिकारियों के इन अभियोगों का प्रतिकार करना कठिन है कि ग्रामीण उद्यान में अवैध रूप से रह रहे हैं। इसलिए उनको कभी भी क्षेत्र से दूर बसाया जा सकता है।

सूर्यप्रकाश के ग्रामीणों को रॉक राष्ट्रीय उद्यान क्षेत्र के सख्त विनियम भी मुश्किल में डालते हैं। स्थानीय कानूनों के अनुसार, दूसरे गाँव को प्रवास जानेवाले लोगों को अपने प्रस्थान की तारीख से 15 दिनों के अंदर स्थानीय जिला प्रशासन कार्यालय में पंजीकृत कराना होगा। लेकिन जिले का प्रशासनिक कार्यालय उद्यान क्षेत्र के बाहर से आये लोगों को उद्यान में किसी गाँव के सदस्य के रूप में पंजीकृत कराने की अनुमति नहीं देता है। नये पंजीकरणों पर लगा यह निषेध गाँवों के भविष्य को प्रभावित करता है। कारेन संस्कृति में शादी के बाद पति पत्नी का गाँव चला जाता है। लेकिन उद्यान के विनियम पति/पत्नी और अन्य नवागतुकों को राष्ट्रीय उद्यान में स्थित किसी गाँव के सदस्य के रूप में पंजीकृत कराने पर रोक लगाते हैं। थाईलैंड में यह बहुत जरूरी है कि लोग अपने निवास-स्थल में समुदाय के सदस्य के रूप में पंजीकृत करायें। स्वास्थ्य जैसी सरकारी सेवाएँ सिर्फ स्थानीय निवासियों को मिलती हैं। दूसरों को शुल्क चुकाने पर सेवाएँ मिलती हैं।

उद्यान अधिकारी उद्यान क्षेत्र में विकास का संकेत भी बर्दाश्त नहीं करते हैं जिससे नागरिक अधिकारों से वंचित लोगों के एक उपेक्षित वर्ग का सृजन हुआ है। चाँदनी गाँव में तत्काल कोई खतरा लोगों के सामने नहीं है। चाँदनी बस्ती बिल्कुल सुरक्षित है, भले ही गाँव में सिर्फ एक ही भूखंड के लिए सरकारी दस्तावेज

मौजूद हों। चाँदनी के लोगों को पंजीकरण की समस्याओं का भी सामना करना नहीं पड़ता है। लेकिन चाँदनी गाँव में अधिकांश लोगों को आशंका है कि एक दिन उनके गाँव को भी रॉक राष्ट्रीय उद्यान में अवस्थित कारेन गाँवों जैसी स्थिति का सामना करना पड़ सकता है।

नागरिक अधिकारों पर असर

थाईलैंड राज्य के 1997 के संविधान के अध्याय 1 की धारा 4 कहती है कि, "जनता की मानवीय गरिमा, अधिकारों और आजादी की रक्षा की जायेगी"। उसी अध्याय की धारा 5 आगे कहती है कि, "थाइ जनता, अपने मूल, लिंग या धर्म से निरपेक्ष, इस संविधान के अंतर्गत समान रूप से संरक्षण का उपभोग करेगी"। लेकिन थाई नागरिकों के रूप में कारेन जनों के नागरिक अधिकारों की हमेशा पूरी तरह रक्षा नहीं की जाती है। वास्तव में, (वन) संरक्षण की नीतियों के चलते अकसर संरक्षित क्षेत्रों में रहनेवाले कारेन जनों के नागरिक अधिकारों का उल्लंघन होता है।

स्वास्थ्य सेवा प्राप्त करने में अवरोध

सूर्यप्रकाश और चाँदनी में रहनेवाले सभी कारेन जनों को थाई नागरिकता प्राप्त है। थाई नागरिकों के रूप में उनको सामाजिक सेवाएँ पाने का वही अधिकार है जो दूसरे नागरिकों को प्राप्त है। थाई सरकार द्वारा ग्रामीण इलाकों में उपलब्ध की जाने वाली सबसे महत्वपूर्ण सेवा है निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा। पिछले दस वर्षों से अधिक समय से निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध की जा रही है और सिद्धांततः सूर्यप्रकाश और चाँदनी गाँवों के सभी निवासी इसके हकदार हैं क्योंकि सरकार ने इनको गरीब गाँवों की क्षेणी में रखा है।

लेकिन व्यवहार में कई लोगों – खास करके सूर्यप्रकाश में रहनेवालों – को स्थानीय स्वास्थ्य सेवा पाने की अर्हता नहीं है क्योंकि इन सेवाओं को प्राप्त करने के लिए खास कुछ प्रशासनिक प्रक्रियाओं का पालन करना अनिवार्य है। किसी स्थानीय सार्वजनिक अस्पताल में मुफ्त इलाज के लिए भर्ती होने के पहले उनको पारिवारिक स्वास्थ्य कार्ड और नागरिकता कार्ड पेश करना होता है। लेकिन कठिनाई यह है कि प्रांतीय सरकार परिवार के नाम कार्ड जारी करती है, व्यक्तियों के नाम पर नहीं। कार्ड में किसी घर में अधिकृत रूप से रहनेवाले सभी लोगों के नाम सूचीबद्ध रहते हैं। स्वास्थ्य कार्ड की पद्धति से सूर्यप्रकाश के कई लोगों को मुश्किल होता है क्योंकि उन्होंने किसी दूसरी जगह से आकर गाँव में शादी की है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में अवरोध

थाईलैंड में सभी गाँवों को बुनियादी जरूरतें मुहैया करने के

उद्देश्य से थाई सरकार ने एक देशी विकास नीति बनायी है। कई सरकारी विभाग थाई जनता के जीवन स्तर को उन्नत करने के काम में संलग्न हैं जिनमें चार मंत्रालय – स्वास्थ्य, कृषि, शिक्षा और आंतरिक – शामिल हैं। चूँकि थाईलैंड एक विकासशील देश है, इसलिए बुनियादी आधारभूत संरचना (यानी सड़कें, बिजली और स्वच्छ जलापूर्ति) मुख्यतः दूरदराज के ग्रामीण इलाकों में विकास संबंधी गतिविधियों पर केन्द्रित है। गरीबों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में मदद करने में कृषि विस्तार कार्यक्रम की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

लेकिन गाँवों को सरकार से एक समान सहायता नहीं मिलती है और संरक्षित क्षेत्रों में अवस्थित गाँवों के लिए बुनियादी जरूरतें मुहैया करने के खिलाफ एक स्पष्ट पक्षपात दिखायी पड़ता है। पिछले दस वर्षों में, शाही वन विभाग की संरक्षण

नीतियों ने उच्चभूमियों पर अवस्थित गाँवों में अधिकांश विकास कार्यक्रमों को अवरुद्ध करने में एक प्रमुख भूमिका अदा की है। वन संबंधी कानून, खासकर राष्ट्रीय उद्यान अधिनियम, अन्य सरकारी विभागों को संरक्षित क्षेत्रों में रहनेवालों को सहायता देने से रोकते हैं।

सूर्यप्रकाश गाँव के लोगों के साथ ठीक यही हो रहा है। उनके गाँव के लिए सड़कें नहीं बनायी जातीं; बिजली या स्वच्छ जलापूर्ति जैसी बुनियादी आधारभूत संरचना की सुविधाएँ मुहैया नहीं की जाती हैं।

सूर्यप्रकाश के निवासियों ने अपने गाँव को अन्य सड़कों से जोड़ने के लिए एक कच्चा रास्ता बनाया है। इस रास्ते से सिर्फ सूखे मौसम में गाड़ियाँ आ-जा सकती हैं; लेकिन वर्षाकाल में उनका गाँव कार्यतः अन्य गाँवों से कटा रहता है। उपयुक्त सड़क

के अभाव में ग्रामीणों के लिए नकद फसल उगाना संभव नहीं है क्योंकि वे अपने उत्पादों को शहरों में बाजारों तक नहीं ले जा पाते हैं। व्यवहारतः सड़क निर्माण पर पूर्ण प्रतिबंध नहीं है; रॉक राष्ट्रीय उद्यान के अधिकारियों ने पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए उद्यान में जलप्रपातों तक पहुँचने हेतु खुद सड़कें बनायी हैं।

किंतु चाँदनी गाँव को तुलनात्मक रूप से अधिक सरकारी सहायता मिली है और वह बेहतर आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों का उपभोग करता है। सरकार ने गाँव तक एक पक्की सड़क बनायी जिससे ग्रामीणों को कृषि उत्पादों को बाजारों में ले जाने में सुविधा होती है। सरकार गाँव को जलापूर्ति और बिजली भी मुहैया करती है। एक सरकारी कृषि विस्तार केन्द्र ने गाँव में शीतोष्ण मौसम के फसलों को उगाना शुरू किया, जिससे चाँदनी गाँव के लोगों का जीवनस्तर उन्नत होने में बड़ी मदद हुई है। चाँदनी गाँव के मुखिया का अनुमान है कि कृषि विस्तार केन्द्र खुलने के बाद ग्रामीणों की औसत आमदनी चौगुनी हो गयी है।

कृषि भूमि की कमी

थाइ सरकार की वन संरक्षण नीतियों का एक परिणाम है भूमि की कमी। दर असल, दोनों सूर्यप्रकाश और चाँदनी गाँवों में खेती के लिए प्रचुर भूमि उपलब्ध है लेकिन वन संरक्षण के विनियमों ने कई इलाकों में खेती के लिए, खासकर झूम खेती के लिए, भूमि के उपयोग पर पाबंदी लगा दी है। खेती के लिए भूमि की उपलब्धता के मामले में दोनों गाँवों की स्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं।

जैसा कि इसके पहले बताया गया, चाँदनी गाँव को सरकारी विकास कार्यक्रमों की उपलब्धता के संदर्भ में कम प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है। यही बात दोनों गाँवों में खेती के लिए भूमि की उपलब्धता के मामले में भी है। इसलिए चाँदनी के ग्रामीणों को वन अधिकारियों के दबाव का ज्यादा सामना करना नहीं पड़ता है। वास्तव में, आरक्षित वन के लिए जिम्मेदार अधिकारीगण विरले ही गाँवों में आते हैं।

सूर्यप्रकाश गाँव के लोगों के लिए वनभूमि पर खेती, खासकर झूम खेती, करना बहुत कठिन है। रॉक राष्ट्रीय उद्यान ने पूरी तरह इन झूम खेतीवाली जमीनों को हड़प लिया है। सूर्यप्रकाश के लोग अब खेती के लिए अपने पिछले परती रखे गये वन भूखंडों का इस्तेमाल नहीं करते हैं क्योंकि अब इन जमीनों को राष्ट्रीय वन माना जाता है। झूम खेती वाले बड़े-बड़े इलाके खो देने के चलते बहुत से कारेन परिवारों के लिए जमीन कम पड़ गयी है।

खेती के लिए परती वनभूमि तैयार करने के लिए पेड़ काटनेवालों की अकसर गिरफ्तारी होती रहती है। अब तक सूर्यप्रकाश में किसी पर अभियोग नहीं लगाया गया है पर रॉक

राष्ट्रीय उद्यान में अवस्थित गाँवों के कई कारेन लोगों पर जंगल के पेड़ काटने का अभियोग लगाया गया है।

चावल की कमी

उत्तरी थाइलैंड में बहुत-से कारेन समुदायों के लिए हमेशा अपर्याप्त चावल उत्पादन की समस्या रही है। लेकिन 1980 के दशक के पहले चावल की कमी की समस्या उतनी विकट नहीं थी क्योंकि खेती के लिए प्रचुर झूम जमीन उपलब्ध रहती थी। हालाँकि सूर्यप्रकाश और चाँदनी गाँवों के पहाड़ी इलाके में सीढ़ीदार खेत बनाने के लिए जमीन की कमी की समस्या थी पर परिवार झूम धान की खेती द्वारा गीला चावल पैदा करके कुछ भरपाई कर लेते थे।

आज भी सूर्यप्रकाश में कारेन लोग सिंचित भूमि पर गीले धान की खेती करते हैं पर झूम खेतों में सूखा धान या गोड़ा धान की खेती करना अब और अधिक कठिन हो गया है। जानकार लोगों के अनुसार आज सूर्यप्रकाश के 70 प्रतिशत से अधिक परिवार और चाँदनी के लगभग 60 प्रतिशत परिवार अपनी खुद की खपत के लिए पर्याप्त धान पैदा नहीं करते हैं।

आज तो चाँदनी गाँव के लोग 20 साल पहले की तुलना में घरेलू खपत के लिए कम धान पैदा करते हैं। हालाँकि चाँदनी में लगभग 60 प्रतिशत परिवार वार्षिक घरेलू खपत के लिए पर्याप्त धान पैदा नहीं करते हैं, अधिकांश परिवार अतिरिक्त चावल खरीदने के लिए पर्याप्त आमदनी कर लेते हैं। जब सरकार ने नकद फसल पैदा करने में उनको सहायता देने के लिए कृषि विस्तार कार्यक्रम चालू किये तो परिवारों को चावल की कमी से निपटने का एक साधन मिल गया। चाँदनी गाँव के मुखिया के अनुमान के मुताबिक, चाँदनी में 90 प्रतिशत से अधिक लोग चावल खरीदने के लिए नकद फसलों के उत्पादन से पर्याप्त आमदनी कर लेते हैं। 10 प्रतिशत से कम परिवारों को अभी भी चावल की कमी की समस्या है। चाँदनी के मुखिया का यह भी विश्वास है कि उनकी चावल की कमी समस्या का कारण हेरोइन (मादक द्रव्य) की लत है। सूर्यप्रकाश में हेरोइन की लत नहीं है और चावल की कमी के लिए मादक द्रव्यों के उपयोग को दोष नहीं दिया जा सकता है। वहाँ धान की कमी का कारण झूम खेती पर लगाये गये प्रतिबंध और सरकारी कृषि विस्तार कार्यक्रमों का अभाव है।

आज सूर्यप्रकाश में खाद्य की कमी की समस्या अधिक विकट है क्योंकि झूम खेती पर प्रतिबंध के चलते अधिकांश परिवार सिर्फ चार या पाँच महीनों तक चलने लायक धान पैदा कर पाते हैं। सूर्यप्रकाश के निवासियों को अपने खाद्य संकट से निपटने में कठिनाई होती है क्योंकि उनके सामने बहुत कम विकल्प हैं। अधिकांश परिवार पहले की तुलना में अधिक लंबे

समय तक गाँव के बाहर अस्थायी रोजगार जुटाने के लिए मजबूर होते हैं।

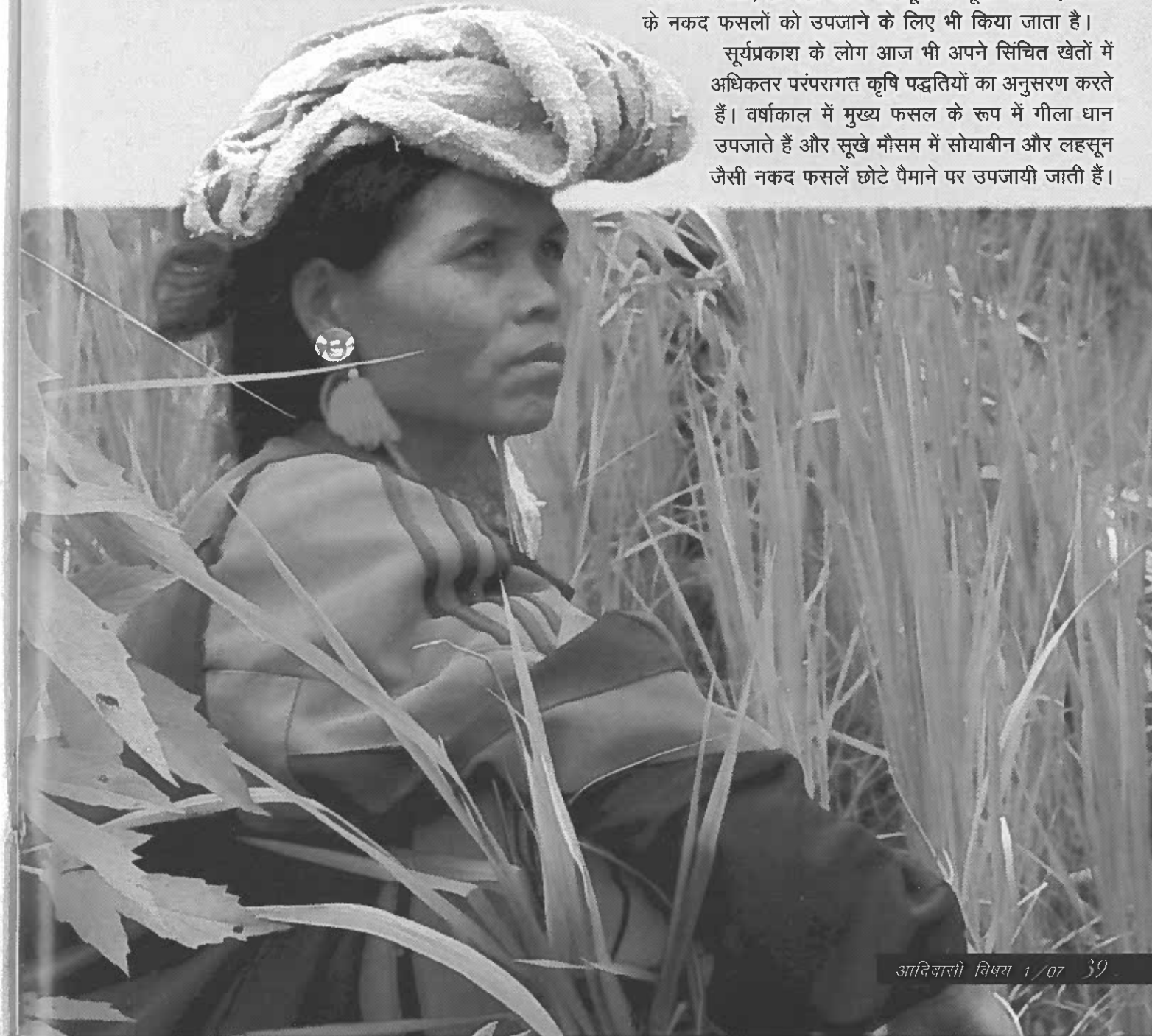
कारेन जनों की प्रतिक्रिया

चूँकि अधिकांश कारेन जन अपनी जन्मभूमियों में ही बने रहना चाहते हैं इसलिए उनको वन संरक्षण संबंधी कार्रवाइयों से होनेवाले बदलावों से निपटने के लिए अपनी जीवन पद्धति को बदलना पड़ा। उन्होंने जमीन के उपयोग की वैसी पद्धतियों को अपनाया जो सरकारी वन संरक्षण नीतियों के अधिक अनुकूल हैं। पद्धतियों में बदलावों में शामिल हैं : नकद फसलों और फलोद्यानों के लिए सिंचित भूमियों और स्थायी उद्यानों का अधिक गहन उपयोग करना और झूम खेती की भूमियों को सिंचित खेतों और फलोद्यानों में बदलना।

सिंचित भूमि

परंपरागत रूप से सिंचित भूमि का उपयोग मूलतः गीला धान उपजाने के लिए किया जाता था। गीले धान का उत्पादन साल में सिर्फ एक बार वर्षा काल में किया जाता था। फसल काटने के बाद धान खेतों को ग्रीष्म काल बीतने तक परती छोड़ दिया जाता था। कुछ कारेन समुदायों के किसान धान के मौसम के बाद तम्बाकू का उत्पादन करते थे लेकिन यह सिर्फ बहुत छोटे पैमाने पर किया जाता था। आम तौर पर, सूखे मौसम के दौरान धान खेतों का उपयोग पशुओं के चरने के लिए किया जाता था। आज सिंचित भूमि का उपयोग काफी अधिक गहन रूप से और विभिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है। अब धान खेतों में साल भर खेती होती है और उनका उपयोग सिर्फ धान उपजाने के लिए ही नहीं बल्कि लहसून या फूल जैसे कई प्रकार के नकद फसलों को उपजाने के लिए भी किया जाता है।

सूर्यप्रकाश के लोग आज भी अपने सिंचित खेतों में अधिकतर परंपरागत कृषि पद्धतियों का अनुसरण करते हैं। वर्षाकाल में मुख्य फसल के रूप में गीला धान उपजाते हैं और सूखे मौसम में सोयाबीन और लहसून जैसी नकद फसलें छोटे पैमाने पर उपजायी जाती हैं।



सूर्यप्रकाश में एक महत्वपूर्ण जानकार ने स्पष्ट किया कि गाँव में अधिकांश गरीब परिवार नकद फसलों में ज्यादा निवेश करना नहीं चाहते हैं क्योंकि उनमें जोखिम है और बाजार अस्थिर रहता है। ग्रामीणों के लिए बड़े पैमाने पर नकद फसल उपजाना संभव नहीं है क्योंकि सूर्यप्रकाश के अधिकतर धान खेत खड़ी चढ़ानवाली घाटी में अवस्थित हैं जहाँ ट्रक नहीं पहुँच सकते हैं। चाँदनी गाँव के लोगों ने कृषि भूमि पर लगे प्रतिबंधों के अनुकूल आसानी से अपने को ढाल लिया। अब गाँव में अधिकतर सिंचित भूमियों का साल भर गहन उपयोग होता है क्योंकि उनके गाँव में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था है। त्वरित ग्रामीण विकास कार्यालय द्वारा 1978 में निर्मित 4,00,000 घन मीटर की क्षमता वाले एक जलाशय की मदद से ग्रामीण सूखे मौसम में फसल उगाते हैं।

चाँदनी में अधिकतर परिवार वर्षाकाल में धान उपजाने की परंपरागत पद्धति को जारी रखे हुए हैं। सूखे मौसम में, चंद किसान दुबारा धान की फसल उगाते हैं लेकिन अधिकतर लोग ऐसा नहीं करते क्योंकि कीड़ों और पक्षियों के चलते फसल का काफी बड़ा हिस्सा नष्ट हो जाता है। अभी अधिकतर परिवार सूखे मौसम में सिंचित खेतों में नकद फसल उपजाते हैं, और कुछ लोग तो साल भर नकद फसल उपजाते हैं। कुछ परिवारों ने तो पूरी तरह धान उपजाना बंद कर दिया है। कुछ परिवार अपनी उपज बेच कर एक साल में 1,00,000 बहत (2,300 अमेरिकी डालर) से अधिक कमाते हैं।

स्थायी बगीचे

परंपरागत रूप से स्थायी बगीचों का उपयोग सिर्फ घरेलू खपत के लिए फल और सब्जियाँ पैदा करने के लिए किया जाता था। लेकिन आज स्थायी बगीचों का उपयोग नकद फसल उगाने के लिए भी किया जाता है। नकद फसलों की तरह, स्थायी बगीचों की उपज चाँदनी गाँव की अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण हो गयी है। अभी कई किसानों ने गाँव से दूर अवस्थित पहले की झूम भूमियों को स्थायी बगीचों में बदल लिया है। चाँदनी में अभी किसान स्थायी बगीचों का उपयोग एवोकाडो, तेंदू, नाशपाती, आडू तथा अन्य फलदार वृक्षों को उगाने के लिए करते हैं और स्थायी बगीचों का उपयोग अल्पकालिक नकद फसल उपजाने के लिए भी करते हैं।

सूर्यप्रकाश में जमीन की कमी के कारण स्थायी बगीचों का विस्तार करने की संभावना कम है। गाँव में अधिकांश स्थायी बगीचे अभी भी घरों के बाड़ों में ही अवस्थित हैं और नकद फसलों की सीमित भूमिका है। स्थायी बगीचों का उपयोग अभी भी मुख्यतः गुजारा की जरूरतें पूरी करने के लिए किया जाता है।

झूम भूमि

इसके बावजूद कि राष्ट्रीय उद्यानों में झूम खेती करना अवैध माना जाता है, अभी भी सूर्यप्रकाश में यह खाद्य उत्पादन का एक महत्वपूर्ण जरिया है। उन्होंने उद्यान के प्रतिबंधों से निपटने के लिए अपनी खेती की पद्धतियों को उसके अनुसार ढाला है। परंपरागत रूप से झूम खेतों को अगली फसल लगाने के पहले सात-आठ साल तक परती रखना होता है। लेकिन उद्यान के प्रतिबंधों के चलते अब सूर्यप्रकाश के ग्रामीण उन्हीं खेतों में हर साल खेती करते हैं।

कारेन लोग इस बात से अवगत हैं कि हर साल उन्हीं झूम खेतों का उपयोग करने से मिट्टी में पोषक तत्व कम हो जाते हैं, फिर भी दूसरा कोई विकल्प नहीं है क्योंकि वनभूमि को परती छोड़ कर पेड़ उगने दें तो उद्यान के विनियम किसानों को खेत में उगे पेड़ों को काटने से रोकते हैं। इसलिए वे झूम भूमियों को परती नहीं छोड़कर उनको सीढ़ीदार खेतों या स्थायी बगीचों में बदलने की कोशिश करते हैं। अभी सूर्यप्रकाश गाँव में अधिकतर झूम भूमियाँ सीढ़ीदार खेतों के पास अवस्थित हैं। यह झूम खेती की परंपरागत पद्धति के अनुसार नहीं है, बल्कि उद्यान के प्रतिबंधों से निपटने का एक तरीका है। सूर्यप्रकाश के एक महत्वपूर्ण जानकार ने यह स्पष्ट किया कि क्यों वह सीढ़ीदार खेतों के इतने निकट झूम खेती करता है :

“परंपरागत रूप से हम सिर्फ परती वनभूमि में ही झूम खेती करते हैं, लेकिन आज ऐसा करना हमारे लिए संभव नहीं है। उद्यान के अधिकारी हमें परती वनभूमि या पेड़ों वाली किसी जमीन पर खेती करने नहीं देते हैं। लेकिन वे अनधिकृत रूप से हमें सीढ़ीदार भूमियों में खेती करने देते हैं। इसलिए हमारे लिए बचे रहने का एक ही रास्ता है कि हम नजदीक की झूम भूमियों को बदलकर अपने सीढ़ीदार खेतों का विस्तार करें। अधिकतर लोग अपनी सीढ़ीदार भूमियों के बगल में ‘जंगल साफ करने की कोशिश करते हैं ताकि वे उनको भविष्य में बदल सकें।”

गाँव के पास ही रहनेवाले उद्यान के स्थानीय रेंजरों को जिन राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों का सामना करना पड़ता है उनकी बदौलत सूर्यप्रकाश के लोग उद्यान में पेड़ों की कटाई पर लगे पूर्ण प्रतिबंध को कुछ हद तक मात दे लेते हैं। सूर्यप्रकाश के उसी मुख्य जानकार ने बताया कि कैसे उसने लुक-छिपकर थोड़ी वनभूमि साफ कर ली:

“हालाँकि उद्यान के अधिकारी हमें अपनी सीढ़ीदार जमीनों के पास पेड़ काटने नहीं देते हैं, फिर भी हम गुप्त रूप से पेड़ काटते हैं। हमने इस बात पर ध्यान दिया कि रेंजर सप्ताह में सिर्फ एक बार और वह भी अधिकतर शुक्रवार के दिन, हमारे

गाँव आते हैं। इसलिए हम उस दिन पेड़ नहीं काटते हैं। स्थानीय अधिकारी अनौपचारिक रूप से हमें सलाह देते हैं कि जब पेड़ काटते समय उनको आते हुए देखें तब हमें भागना चाहिये, नहीं तो फिर उनको हमें गिरफ्तार करना ही पड़ेगा। मैं यह भी जानता हूँ कि वे नहीं चाहते कि हम खुले आम बड़े-बड़े क्षेत्रों में पेड़ काट डालें क्योंकि इससे उनके लिए हमें देखना आसान होता है। लेकिन अगर मैं एक छोटी-सी जगह थोड़े-से पेड़ काट लूँ तो वे उस पर विशेष ध्यान नहीं देंगे।”

चाँदनी गाँव में झूम खेती को भी त्याग दिया जा रहा है। लेकिन सूर्यप्रकाश गाँव जैसा न होकर, चाँदनी में बदलाव की प्रेरणा वन संरक्षण कानूनों के दबाव से नहीं बल्कि लोगों को उपलब्ध आजीविका के वैकल्पिक साधनों से मिलती है।

खाद्य-आत्मनिर्भरता खोने पर प्रतिक्रिया

चूँकि कई ग्रामीणों के पास खेती के लिए कम जमीन है, इसलिए वे अपने गाँव के बाहर अस्थायी मजदूरी करते हैं। ऊँचाई और तापक्रम में अंतर के चलते निचले इलाकों में वर्ष के अंतिम महीनों में खेती के मुख्य काम शुरू होते हैं और कई कृषि कार्य तो सालभर चलते हैं। इसके चलते कारेन लोग अपने यहाँ काम की मंदी के समय पड़ोस के थाई शहरों में अस्थायी मजदूरी के लिए जा सकते हैं।

कई ग्रामीण थाई समुदायों को कृषि कार्यों में मजदूर कम मिलते हैं क्योंकि उनके जवान लोग बड़े शहरों में शापिंग मालों या कारखानों में काम करना अधिक पसंद करते हैं जहाँ काम में खटनी कम है और वेतन अधिक मिलता है। इस कारण दोनों सूर्यप्रकाश और चाँदनी गाँवों के लोगों के लिए पास की थाई बस्तियों में कृषि कार्यों में अस्थायी रोजगार के अवसर रहते हैं। उनको विभिन्न प्रकार के काम उपलब्ध रहते हैं, जैसे लॉगन फलों का संग्रह करना, धान, लहसून या प्याज की रोपनी और धान कटनी। कारेन लोगों को मौसमी खेतिहर मजदूरी करने के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी काम मिलता है।

सूर्यप्रकाश के लोगों ने थाई शहरों में सैरगाहों, होटलों और घरों सहित कई जगह अकुशल नौकरियों में काम किया है। चूँकि चाँदनी गाँव में शिक्षित लोग अधिक हैं, इसलिए उनमें से कुछ ने थाई शहरों और नगरों में सफेदपोश नौकरियाँ हासिल की हैं। कुछ लोग शिक्षक, कृषि विस्तार पेशेवर या सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिकारी हैं जो स्थायी रूप से गाँव छोड़कर अन्यत्र बस गये हैं। चाँदनी के कम शिक्षित लोगों को गैस केन्द्रों, होटलों, सैरगाहों या कारखानों में अस्थायी या मौसमी काम मिल जाता है।

अधिकतर गरीब परिवारों के लिए मजदूरी का काम आमदनी का मुख्य जरिया हो गया है। उम्रदराज लोग पास के थाई

शहरों में अस्थायी या मौसमी काम करना पसंद करते हैं और युवा लोग बड़े शहरों में पूर्णकालिक नौकरियाँ करना चाहते हैं।

विकास कार्यक्रमों को रोकने पर प्रतिक्रिया

सूर्यप्रकाश में ग्रामीणों ने खुद सड़कें बनाकर तथा नलों की व्यवस्था करके काफी स्वावलम्बन प्रदर्शित किया है। उन्होंने बुनियादी आधारभूत संरचना की व्यवस्था करने के लिए सरकार से बार-बार अनुरोध किया था पर उससे कोई नतीजा नहीं निकला क्योंकि रॉक राष्ट्रीय उद्यान ने उद्यान में अधिकतर सरकारी विकास कार्यों को रोक दिया है। सूर्यप्रकाश के लोगों ने इलाके में अन्य कारेन गाँवों के साथ मिलकर खुद निकटतम पक्की सड़क से अपने गाँवों को जोड़ने के लिए सड़क बनायी। उपयुक्त औजार नहीं होने के कारण सड़क बनाने में सूर्यप्रकाश और पड़ोसी गाँवों को लगभग तीन साल लगे। साथ ही उनको अपनी आजीविका के लिए भी काम करना पड़ता था; वे सिर्फ फुरसत के समय ही सड़क बनाने का काम कर सकते थे। अब सड़क बन जाने से ग्रामीण उससे फायदा उठा सकते हैं; वे अपनी उपज को बाजारों में ले जा सकते हैं और बीमारों को अस्पताल।

सड़क बनाने के अलावा, सूर्यप्रकाश में दूसरी स्व-सहायता परियोजनाएँ भी कार्यान्वित की गयीं। बिना सरकारी सहायता के पेयजल आपूर्ति के लिए नल की व्यवस्था की गयी। आयरलैंड के एक एनजीओ ने पीवीसी पाइपों और चिपकाव के लिए निधि प्रदान की और ग्रामीणों ने मिलजुलकर पाइप बैठायी।

सरकारी सेवाओं के अभाव में सूर्यप्रकाश के लोगों ने विभिन्न एनजीओ के कार्यक्रमों द्वारा वैकल्पिक व्यवस्था की है। उदाहरणतः अंतर्राष्ट्रीय और चर्च संगठनों ने सूर्यप्रकाश के सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में योगदान किया। चूँकि गाँव में कोई स्कूल नहीं था, इसलिए क्रिश्चियन चिल्ड्रेन्स फंड (सीसीएफ) ने दस वर्ष से अधिक समय से बाहर जाकर पढ़ाई करनेवाले सूर्यप्रकाश के बच्चों को आर्थिक सहायता दी। एक कैथोलिक विकास संगठन, चियांग माइ डायोसीसन सोशल एक्शन सेंटर भी सूर्यप्रकाश में सामुदायिक कार्यक्रमों की मदद करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। उनकी आर्थिक सहायता से संचालित एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण परियोजना चावल बैंक की स्थापना है।

चाँदनी गाँव में भी एक चावल बैंक है। 1970 से यह काम कर रहा है। कैथोलिक चर्च ने उसके लिए प्रारंभिक आर्थिक मदद दी थी। चाँदनी में, सरकार नहीं, बल्कि चर्च ने ही ग्रामीणों को प्रथम विकास कार्यक्रम दिये।

जलसंयोजन नेटवर्क का गठन और अन्य नागर संगठन

परंपरागत रूप से प्रत्येक कारेन गाँव अपने इलाके में प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंध करता था। प्रत्येक गाँव में

बड़े-बूढ़ों की एक परिषद प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग और प्रबंध की देखभाल करती थी। लेकिन आरएफडी के हस्तक्षेप के कारण बड़े-बूढ़ों की परिषद ने ग्रामांचल में वनों के उपयोग का प्रबंध करने के अपने अधिकार काफी हद तक खो दिये। पिछले दस वर्षों में सरकारी वन संरक्षण नीतियों की प्रतिक्रिया में कई कारेन समुदायों ने वन प्रबंधन के लिए नये ढाँचे खड़े किये। उन्होंने नागर संगठन बनाये, जिन्होंने एक जलछाजन क्षेत्र या जिले में अवस्थित विभिन्न गाँवों से शिक्षित नौजवानों और गाँव के बड़े-बूढ़ों को जुटाकर उनकी मदद से गाँवों में नेटवर्क बनाये जो खास-खास मुद्दों पर काम करते हैं। उत्तरी थाइलैंड में कारेन जनो के बीच कई वन प्रबंधन संगठन सक्रिय हैं जिनमें हाइलैंड नैचुरल कन्जर्वेशन क्लब, माइ वांग वाटरशेड नेटवर्क, माई खान वाटर शेड नेटवर्क और हाइलैंड वाटरशेड और वाइल्ड लाइफ कन्जर्वेशन क्लब शामिल हैं।

नये संगठनों ने प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग का प्रबंध करने के लिए नियम बनाये हैं जो मौखिक परंपरा द्वारा पीढियों से हासिल विवेक और संबंधों पर आधारित हैं। हाइलैंड नेचुरल कन्जर्वेशन क्लब एक जलछाजन नेटवर्क है। उच्चभूमियों में कार्यरत एक निम्नभूमि संरक्षण समूह के साथ हुए तीव्र विरोध से निपटने के लिए शिक्षित कारेन लोगों के एक समूह ने 1989 में इसकी स्थापना की। इस संगठन ने भूमि उपयोग और वन प्रबंधन संबंधी समस्याओं पर चर्चा करने के लिए इलाके के शिक्षित लोगों और स्थानीय नेताओं को एकजुट किया। पहली बैठक के बाद समूह इस निष्कर्ष पर आया कि समुदायों का एक नेटवर्क बनाने की जरूरत है क्योंकि कई समस्याओं का समाधान सिर्फ गाँव के स्तर पर नहीं हो सकता है।

हाइलैंड नेचुरल कन्जर्वेशन क्लब के एक सह-संस्थापक ने संगठन बनाने के कारण बताये। उनका विश्वास था कि अगर कारेन लोगों को जंगल में बने रहना है तो उनको एक नये प्रबंध संगठन की जरूरत है। उन्होंने बताया कि कैसे पिछले दस वर्षों में कारेन लोगों और उद्यान अधिकारियों तथा निम्नभूमि क्षेत्रवासियों के बीच संसाधनों के उपयोग के मामले में तीव्र विरोध हुए। उद्यान अधिकारियों ने कारेन लोगों पर आरोप लगाया कि वे उद्यान के भूभाग में अवैध रूप से खेती कर रहे हैं और निम्नभूमिवासियों ने आरोप लगाया कि निम्नभूमि क्षेत्र में ऊपर से कम पानी बहकर आ रहा है। अतः कारेन लोगों को उच्च भूमिवासियों और निम्नभूमिवासियों और सरकारी अधिकारियों के बीच बेहतर समझ पैदा करने के लिए मिलकर काम करने का जरूरत है।

संरक्षण समूहों और जलछाजन जालकार्यों ने कई सारी

गतिविधियाँ शुरू की। इनमें शामिल हैं : प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को व्यवस्थित करने के लिए लिखित रूप में नियम और विनियम बनाना; भू-उपयोग मानचित्र और त्रि-आयामी मॉडल बनाकर उनकी मदद से भूमि और वन के उपयोगों का वर्गीकरण करना और लोगों को उसकी जानकारी देना; वन विनाश को रोकना; कारेन लोगों के भू-उपयोग के अधिकारों को मान्य करने के लिए स्थानीय सरकारी अधिकारियों के साथ बातचीत चलाना। वनों का विनाश रोकने में वन संरक्षण समूह और जल छाजन नेटवर्क महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सदस्य गाँवों से कहा जाता है कि वे समूह या नेटवर्क के भूभाग में बाहरी लोगों को पेड़ काटने न दें और जंगल में लगी आग को बुझाएँ। सूखे मौसम में, ग्रामीण जंगल में आग लगने से रोकने के लिए अपने समुदाय के चारों तरफ अग्नि नियंत्रण लाइनों या फायर ब्रेकों का निर्माण करते हैं। लेकिन अगर आग लगे तो ग्रामीण आग बुझाते हैं। चूँकि वे जंगल में आग पर नियंत्रण करने में मदद करते हैं इसलिए उद्यान अधिकारी स्थानीय लोगों के प्रति कुछ सद्भावना प्रदर्शन करते हैं। वन संरक्षण समूहों और नेटवर्कों की एक और महत्वपूर्ण गतिविधि स्थानीय प्रशासन, जैसे जिला और वानिकी अधिकारियों, को इस बात के लिए मनाना था कि वे स्थानीय लोगों के जंगल और जमीन का उपयोग करने के अधिकारों को मान्यता दें। इसमें कुछ सफलता मिली है।

नारितरांगकुल (1996 : 143-144) कहता है कि एनएफडीएन ने तीन स्तरों पर - गाँव, जलछाजन और नीतिगत स्तर पर - सक्रियता के लिए आह्वान दिया। गाँव के स्तर पर समुदाय को राज्य की नीति और उसके स्थानीय निहितार्थ के बारे में बताना है और प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को व्यवस्थित करने और पर्यावरण के विनाश को रोकने के लिए वनसंरक्षण समूहों का गठन करना है। जल छाजन क्षेत्र के स्तर पर विभिन्न गाँव कई सारे मुद्दों पर अपनी गतिविधियों में तालमेल बैठाते हुए एक-दूसरे से सहयोग करते हैं। नीतिगत स्तर पर एनएफडीएन अन्य संगठनों के साथ मिलकर लोगों और प्रकृति के सहअस्तित्व को मान्यता देनेवाले नीतिगत बदलाव करने के लिए सरकार को प्रभावित करता है।

एनएफडीएन के सदस्यों का विश्वास है कि अगर टिकाऊ वानिकी पद्धतियों में आदिवासियों की जानकारी को शामिल किया जाये और नीतिगत विकास में स्थानीय निवेश के माध्यम से समुदाय की प्रतिबद्धता हासिल की जाये तो फिर मनुष्यों की बस्तियों और स्वस्थ वनों का सुसंगत सह-अस्तित्व संभव है। नारितरांगकुल (1996) कहता है कि स्थानीय अधिकारियों के साथ व्यवहार में प्राप्त सीमित सफलता के चलते एनएफडीएन

ने यह नीति अपनायी कि स्थानीय अधिकारियों को मनाने के बदले राष्ट्रीय वानिकी विभाग के मंत्री से बात चलाना बेहतर होगा। सरकार के साथ वार्ता करने के अलावा, एनएफडीएन ने अपने हजारों सदस्यों और ग्रामीण गरीबों के अधिकारों के लिए अभियान चला रहे एसैब्ली ऑफ पूर नामक संगठन से आये अन्य आंदोलनकारियों को आंदोलन में सक्रिय किया।

संदर्भ

- कोलचेस्टर, मार्क्युस (1994) "साल्वेजिंग नेचर : इंडिजीनस पीपुल्स, प्रोटेक्टेड एरियास एंड बायोडाइवर्सिटी कन्जर्वेशन", यूएनआरआइएसडी।
- यूडी, आर्दित्थ ए. (1989) "14 अप्रैल 1986 : एक्विशन ऑर्डर्स ऑफ हुआइ यू यी विजेन, हुआइ खा खाएंग वाइल्डलाइफ सैक्चुररी, थाइलैंड" इन मैककिन्नोन एंड वियेनी (संपादक), "हिल ट्राइब्स टुडे : प्रोब्लेम्स इन चेंज", बैंकॉक : व्हाइट लोटस - ओस्टार्म।
- गंजानपान, अनान (1996) "दि पोलिटिक्स ऑफ एनवायरॉनमेंट इन नार्दर्न थाइलैंड", इन हर्स्ट (संपादक) "सीइंग फॉर्रेस्ट फॉर ट्रीज : एनवायरॉनमेंट एंड एनवायरॉनमेंटलिज्म इन थाइलैंड" चियांग माइ : सिल्कवॉर्म्स बुक्स।
- कीन, एफ.जी.बी. (1983) "लैंड यूज" इन जॉन मैककिन्नोन एंड डब्ल्यू थुकसाप्पी (संपादक), "हाइलैंडर्स ऑफ थाइलैंड", कुआला लुंपुर : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- केम्फ, ई., (संपादक), (1993) "इंडिजीनस पीपुल्स एंड प्रोटेक्टेड एरियास : दि लॉ ऑफ मदर अर्थ", लंदन : अर्थ स्कैन पब्लिकेशन्स लि।
- कुन्सटाडटर, पी; ई.सी. चैपमैन एंड एस.सभाश्री (संपादक) (1978) "फार्मर्स इन दि फॉर्रेस्ट : इकोनॉमिक डेवलपमेंट एंड मार्जिनल एग्रिकल्चर इन नार्दर्न थाइलैंड", होनोलूलू : ईस्ट वेस्टर सेंटर।
- मैककिन्नोन, जे. एंड वियेनी, बी (1989) "हिल ट्राइब्स टुडे : प्रोब्लेम्स इन चेंज", बैंकॉक : व्हाइट लोटस।
- नारितरांगकुल, पी (1996) "कम्यूनिटी फॉर्रेस्ट्री एंड वाटर शेड नेटवर्क्स

इन दि नॉदर्न थाइलैंड", इन हर्स्ट (संपादक), "सीइंग फॉर्रेस्ट फॉर ट्रीज : एनवायरॉनमेंट एंड एनवायरॉनमेंटलिज्म इन थाइलैंड", चियांग माइ : सिल्कवॉर्म्स बुक्स।

सुकुंग, के. (1997) "दि फाइट फॉर दि फॉर्रेस्ट्स", बैंकॉक पोस्ट, जून 19, 1997।

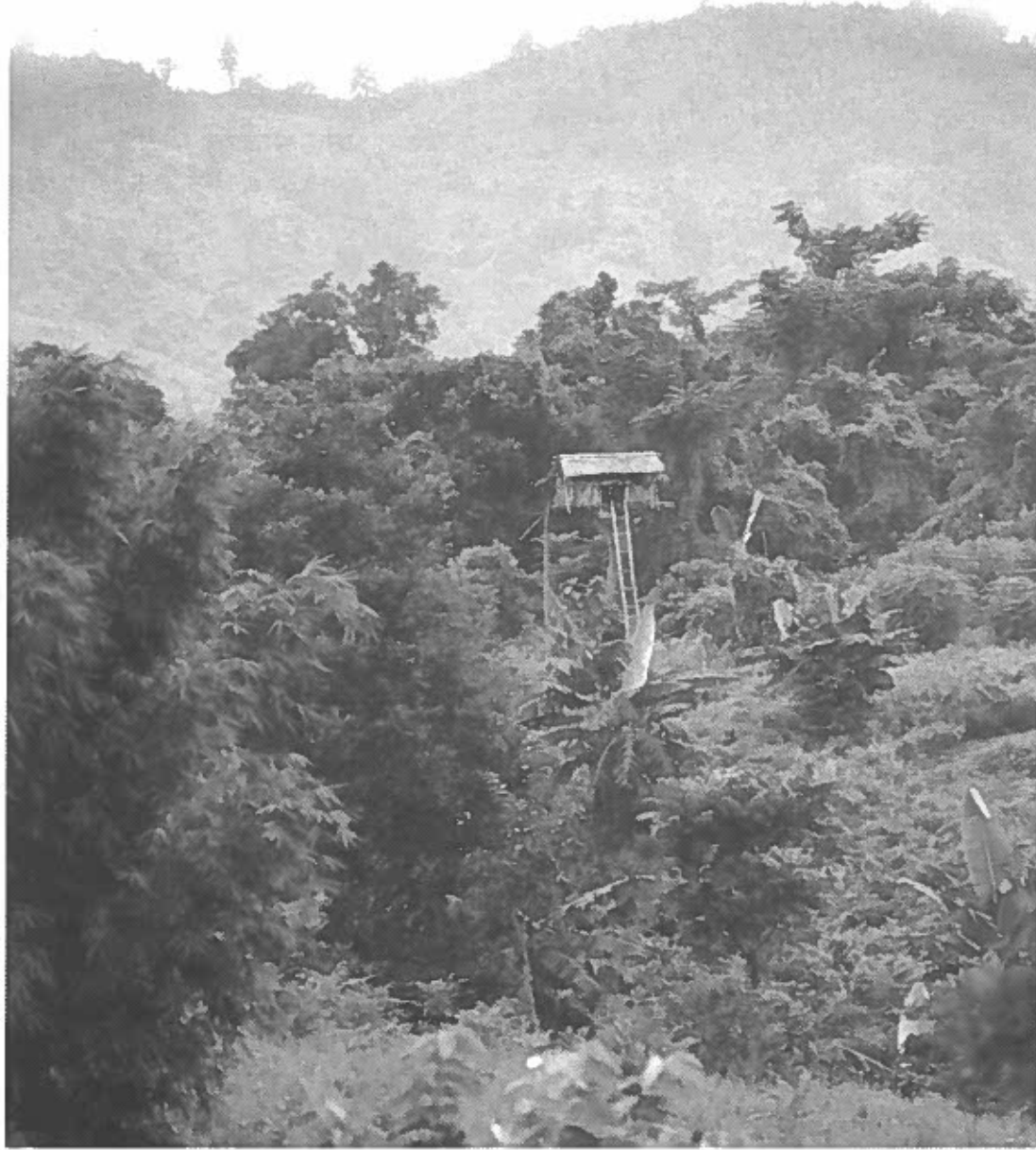
चंपोल मणिरतनावोंगसिरि उत्तरी थाइलैंड में चियांग माइ प्रांत के माइ वांग जिले के एक कारेन हैं। उन्होंने चियांग माइ यूनिवर्सिटी से समाजविज्ञान और नृविज्ञान में बी.ए. किया, ट्रेट यूनिवर्सिटी, कनाडा, से नेटिव स्टडीज में एम.ए. किया और टेरंटो यूनिवर्सिटी, कनाडा, से पी.एचडी. प्राप्त की। उनका शोध आदिवासी ज्ञान एवं विवेक, आदिवासी संसाधन प्रबंधन प्रणालियों और आदिवासी जनो के अधिकारों पर केन्द्रित है। उन्होंने चियांग माइ यूनिवर्सिटी के सोशल रिसर्च इंस्टिट्यूट की मेजबानी में कनाडा की ट्रेट यूनिवर्सिटी के नेटिव स्टडीज थाइलैंड इयर एब्रोड कार्यक्रम के साथ कई वर्ष काम किये।



गारो बच्चे, पश्चिमी गारो पर्वत।
तस्वीर : क्रिश्चियन एर्नी

झूम खेती और वन्यजीव संरक्षण : एक बहस

संपादन : एलिसाबेथ केरखोफ और क्रिश्चियन एर्नी



हाथियों से बचने के लिए पेड़ पर बना हुआ घर। पश्चिमी गारो पर्वत, मेघालय। तस्वीर : क्रिश्चियन एर्नी

कृषिशास्त्रियों और वनपालों से लेकर विकास योजनाकारों और संरक्षणवादियों तक, कई तथाकथित विशेषज्ञ पूर्वोत्तर भारत में "झूम" के नाम से प्रचलित जगह बदलते हुए की गयी खेती को अविवेकपूर्ण, अपव्ययी और पर्यावरण को नष्ट करने वाली मानते हैं। एशिया में जहाँ भी संरक्षित क्षेत्र कायम किये गये हैं, उन क्षेत्रों को बचाने के लिए उनके अंदर या पास में झूम खेती को निरुत्साहित करने की कोशिशें की गयी हैं या उस पर पूरी तरह पाबंदी लगा दी गयी है क्योंकि उसे संकटापन्न ज़ीवों के लिए खतरा माना जाता है। ऐसे प्रयासों से प्रभावित लोगों – अदिक्तर आदिवासियों – पर गंभीर परिणाम हुए हैं। सिर्फ चंद जीवविज्ञानियों और संरक्षणवादियों ने वन्यजीवों के निवास-स्थलों पर झूम खेती के प्रभाव को सचमुच समझने की कोशिश की है, और हमारी जानकारी में इस समस्या का कोई समग्र अध्ययन नहीं किया गया है। इस मुद्दे पर नये सिरे से एक निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाना न सिर्फ़ वैसे आदिवासी समुदायों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और जरूरी है, जिनकी जमीनों को संरक्षित क्षेत्र घोषित कर दिया गया है, बल्कि यह वन संरक्षण में लगे लोगों और नीति निर्धारकों के लिए भी समान रूप से प्रासंगिक है।

वर्ष 2004 में, अप्रैल और जून के बीच, झूमिया नेटवर्क के सदस्यों ने वन्यजीवों और झूम खेती के बीच के अंतर्संबंध पर एक जीवंत बहस किया था। यह शोधकर्ताओं, विकास पेशेवरों और मुख्य रूप से पूर्वी हिमालय क्षेत्र में झूम खेती पर अध्ययनरत अन्य विशेषज्ञों का एक इंटरनेट-आधारित नेटवर्क है। इस बहस का संपादन करके संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है और ब्रैकेटों में सहभागियों के नाम दिये गये हैं। अंतर्राष्ट्रीय समाकलित पर्वत विकास केन्द्र और उसके साझीदारों द्वारा पूर्वी हिमालय पर्वतांचल के लिए आयोजित झूम कृषि नीति-संबंधी संवाद कार्यशाला के दौरान उक्त बहस के नतीजे पेश किये गये। इस कार्यशाला में उत्पन्न कुछ नीतिगत मुद्दे और सिफारिशें जैवविविधता के संरक्षण में झूम खेती की भूमिका से खास तौर से संबंधित हैं।

मुद्दा

(क्रिस एर्नी) कथित वन विनाश के कारण थाईलैंड में कारेन समुदायों पर स्थानांतरित किये जाने का खतरा मँडरा रहा है। इस खतरे की प्रतिक्रिया में समुदायों ने एक नेटवर्क के रूप में संगठित होकर अपना खुद का समुदाय-आधारित संसाधन प्रबंध शुरू किया है। अपनी जगह बने रहने देने के लिए पर्याप्त समर्थन हासिल करने में वे सफल रहे हैं। "जंगल को पुनरुज्जीवित करने" में उनके वन संरक्षण के प्रयास काफी सफल रहे हैं।

समुदाय द्वारा संरक्षित वनों में (आम तौर पर पुराने जंगलों में जिनका वे अतीत में संरक्षण करते आ रहे थे) समुदाय द्वारा शिकार पर लगायी गयी पाबंदी से कुछ वन्य जीवों को फायदा

हुआ है। लेकिन, लोगों ने बताया कि, अन्य वन्य जीवों की संख्या घटी है क्योंकि वे परती वनों (द्वितीयक वनों) को अधिक पसंद करते हैं क्योंकि उनमें उनको चारा मिलने में अधिक सुविधा होती है। झूम खेती घटने के चलते कुछ किस्म के पेड़-पौधे भी बहुत कम हो गये हैं (लोगों ने लकड़ियों पर पनपनेवाले कुकुरमुत्तों और जंगली सब्जियों का खास तौर पर जिक्र किया) और अब झूम खेतों में उपजाये जाने वाले कई घरेलू पेड़-पौधों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है।

किसानों का पक्का विश्वास है कि वन्य जीवों को (और अवश्य लोगों को भी) झूम खेती जारी रखने की अनुमति देने से ही फायदा होगा। मैंने अकसर अन्य मौकों पर ऐसी दलीलें सुनी/पढ़ी हैं, जैसे, जंगली मवेशियों- बाटेंग, गौड आदि के बारे में लिखी रचनाओं में, जिनको झूम किसानों द्वारा जंगलों में बनाये गये खुले स्थलों से फायदा हुआ है। कारेन समुदायों के मिथकों में भी जंगली मवेशियों और झूम खेती के बीच के घनिष्ठ अंतर्संबंध के बारे में भी बताया गया है। ऐसे संबंधों की अधिक गहरी जानकारी, खासकर वन संरक्षण में लगे लोगों के शोधों एवं ठोस अनुभवों पर आधारित जानकारी, से समुदायों को सरकार के साथ उनकी वार्ताओं में काफी मदद हो सकती है। अगर आप ऐसी कोई जानकारी मुझे दे सकें तो मैं आपका आभारी होऊंगा।

कुछ लोगों के लिए अच्छा तो दूसरों के लिए बुरा

(एलिसाबेथ केरखोफ) हाथियों के लिए झूम खेती अच्छी है। डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ.-यू.एस. के डॉ. एरिक विक्रमनायक ने पाया कि श्रीलंका में हाथियों के संरक्षण के लिए झूम खेती अच्छी है क्योंकि वे बड़ी-बड़ी जगहें पसंद करते हैं। बारी-बारी से बदल-बदल कर किये जाने के कारण झूम खेती से लोग और हाथी विभिन्न समयों में उन्हीं संसाधनों का दोहराकर इस्तेमाल कर पाते हैं। हाथियों को वैसी खुली जमीनों पर अच्छा लगता है, जहाँ लोगों द्वारा परती रखे जाने के प्रथम चरणों में वनस्पति अभी तक बहुत सघन जंगल नहीं बना है। अगर झूम खेती नहीं की जाये तो अत्यधिक संभावना इसी बात की है कि सिर्फ सघन वन और स्थायी खेत ही रहेंगे।

हाथी फसल लगे खेत तो पसंद करेंगे, पर किसानों के लिए वह बहुत खतरनाक होगा। चूंकि इस खास स्थिति में भूखंड काफी छितराये रहते हैं, इसलिए अनुशांसा इस बात की की जाती है कि झूम किसान अपने भूखंडों के आवंटन का प्रबंध इस प्रकार करें कि एक जगह व्यवस्थित बड़े क्षेत्रों पर फसल लगायी जाये और दूसरी जगह परती छोड़ी जाये, जैसा कि नागालैंड (पूर्वोत्तर भारत) में परंपरागत रूप से किया जाता है। यह हाथियों को और भी अधिक अच्छा लगेगा। बदल-बदल कर खेती करना झूम खेती का बुनियादी पहलू है और यह खेती के साथ वन संरक्षण को जोड़ने का अच्छा तरीका है।

“झूम खेती के बारी-बारी से बदल-बदल करने के पहलू के चलते लोग और हाथी विभिन्न समयों में उन्हीं संसाधनों का दोहराकर इस्तेमाल कर पाते हैं।”

(विन्सेंट डारलॉगः) विशेष रूप से बड़े स्तनपायी जानवरों और फसल-विविधता के लिए झूम खेती अच्छी होती है। झूम खेती प्राकृतिक भू-परिदृश्यों को अनूठी जैवविविधता से युक्त सांस्कृतिक भूपरिदृश्यों में बदल देती है। स्पेंसर दलील देते हैं कि : “ऐतिहासिक रूप से, झूम खेती सघन वनाच्छादित भू-परिदृश्यों को विकसित सांस्कृतिक भू-परिदृश्यों में रूपांतरित करने की प्रक्रियाओं में से एक है। ऐसे रूपांतरित भूपरिदृश्य ने आज मौजूद जैव विविधता की अनूठी संपदा के विकास और वितरण को सुनिश्चित किया।” वन्यजीव, विशेष करके बड़े स्तनपायी जानवर, झूम खेती पर बहुत ज्यादा निर्भर करते हैं। यह उत्पादन स्थल पर कई प्रकार के खाद्य फसलों का भी संरक्षण करती है।²

“विशेष रूप से बड़े स्तनपायी जानवरों और फसल विविधता के लिए झूम खेती अच्छी होती है।”

(अर्पण शर्माः) वन्य जीव संरक्षण और मानवों के उपयोग के बीच संबंध पर ये कुछ सामान्य सिद्धांत हैं : 1) संरक्षण के उद्देश्य क्या हैं?, 2) चर्चित जीवजातियों या पारिस्थितिकी प्रणालियों की कौन-सी निर्दिष्ट जरूरतें हैं?, 3) झूम खेती कैसे उन जरूरतों को पूरा करने में मदद कर सकती है और कैसे अन्य जीवजातियों को नुकसान होता है? उदाहरणतः अगर बात हाथियों की है तो कुछ मात्रा में झूम खेती सचमुच लाभकर

होगी। लेकिन, झूम खेती की चक्रावधियां बहुत ज्यादा छोटी हों तो हाथियों के पसंद के पौधे उगने के पहले ही कृषक फिर से वापस उसी भूखंड पर खेती के लिए आ जायेगा जिससे हाथियों को नुकसान ही होगा। हाथियों जैसे बड़े जानवरों को भोजन के अलावा अन्य कई जरूरतों के लिए वन भूखंडों की जरूरत होती है। हाथियों का सामाजिक संगठन अत्यंत जटिल होता है और हाथियों के झुंडों को एकांत स्थलों की जरूरत होती है, जो जंगलों में ही मिलते हैं। इसलिए झूम खेती का परिदृश्य निश्चय ही हाथियों के लिए फायदे का होता है। (उदाहरणतः, वैसी स्थिति की तुलना में जहां क्षेत्र में व्यापक एकल-वृक्ष व्यावसायिक फसल के वृक्षरोपण लगे हों), लेकिन इसकी सही-सही भूमिका को सुनिश्चित करने के लिए विस्तृत शोध की जरूरत है।

“उपयुक्त भू-उपयोग की सिफारिश करने के पहले प्रत्येक जीव-जाति की जरूरतों के बारे में स्पष्ट होने की जरूरत है।”

उपयुक्त भू-उपयोग की सिफारिश करने के पहले प्रत्येक जीव-जाति की जरूरतों के बारे में स्पष्ट होने की जरूरत है। जीवजातियों की प्राथमिकताओं के बारे में भारत में कुछ अध्ययन हुए हैं, पर झूम भूमियों में वन्य जीवों के जीवन के नियमों के बारे में बहुत कम अध्ययन किया गया है। वर्षा वनों में रहने वाले बहुत सारे विशिष्ट और संकटापन्न पेड़-पौधे और हूलोंक ऊलकों जैसे जानवर सिर्फ विघ्न-रहित आदिम वनों में रहते हैं। उनके लिए झूम खेती बहुत हानिकर हो सकती है।

“मामले का ‘दूसरा पक्ष’ है.... लगातार बढ़ते मानव-जंतु विरोध।”

(विन्सेंट डारलॉगः) में झूम खेती और वन्य जीवों के बीच के



फिलीपिन्स, मलेसिया और थाईलैंड के तरवीरें : खीस्तीयन एर्नी

संबंध, यानी मनुष्यों और जानवरों के बीच लगातार बढ़ते विरोधों, के मामले के “दूसरे पहलू” पर कुछ टिप्पणियाँ करना चाहता हूँ। भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र का एक स्थापित उदाहरण है मनुष्यों और हाथियों के बीच का लगातार बढ़ता विरोध, खासकरके गारो पहाड़ियों (मेघालय) में। यह माना जाता है कि इन विरोधों का मुख्य कारण हाथियों के प्राकृतिक निवास-स्थलों और आने-जाने के रास्तों में मनुष्यों के बढ़ते हुए विभिन्न प्रकार के अतिक्रमण हैं (खेती/झूम के लिए निवास स्थलों की सफाई, नकद फसल वृक्ष रोपणों, मानव बस्तियों, कांक्रीट बाड़ों आदि के रूप में किये गये अतिक्रमण)। कम से कम गारो पहाड़ियों में, संरक्षण ट्रस्ट (एक वन्यजीव एनजीओ) सामुदायिक सहभागिता के माध्यम से इन विरोधों के कारणों को समझने और दोनों वन्यजीवों एवं मनुष्यों के साथ रहते हुए फलने-फूलने की संभावित पद्धतियों का पता लगाने के लिए कोशिश कर रहा है।

क्या झूम खेती से जैव विविधता बढ़ती है?

(एलिसाबेथ केरखोफः) चूंकि झूम खेती से विविधतापूर्ण भूदृश्य का सृजन होता है (सिर्फ आदिम वन की तुलना में), अधिक निवास स्थलों का सृजन होता है और इसलिए इस बात की संभावना है कि इससे जीवजातियों और पारिस्थितिकीय समृद्धता में वृद्धि होगी।

(अर्पण शर्माः) यह अनुभवजन्य रूप से अवलोकित तथ्य है। लेकिन जरूरी नहीं कि जीवजातियों की बृहत्तर समृद्धता (या विविधता) के फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति संरक्षण के दृष्टिकोण से बेहतर हो।

(ध्रुपद चौधरीः) झूम खेती से सिलसिलेवार कई प्रकार के भू-दृश्य बनते हैं जो विघ्नरहित छोड़ दिये जाने से अंततः लगभग वैसे आदिम वनों जैसी परिस्थितियों का सृजन होगा जिनका आप उल्लेख कर रहे हैं। भूदृश्य के स्तर पर, इससे

प्रबल रूप से देशी जीवजातियों से युक्त द्वितीयक वनों की एक पच्चीकारी बनेगी। यह वन्यजीवों की जरूरतों के अनुकूल होगा और इससे विविधता बढ़ेगी। नीति-निर्धारकों और संरक्षणवादियों को यह बात स्पष्ट बतानी चाहिए।

“गलत धारणाओं पर बनी नीतियों के चलते झूम खेती विनाशकारी बन गयी है।”

झूम खेती की विनाशकारी प्रकृति के बारे में विरोध में दी जाने वाली दलील युगों पुरानी है। इसके लिए मेरा उत्तर यह है कि झूम खेती के विनाशकारी बन जाने का कारण स्थानबद्धता के पक्ष में गलत धारणाओं पर बनी नीतियां और अनुपयुक्त हस्तक्षेप हैं जो परंपरागत भू-प्रबंधन की पूर्ण अनभिज्ञता को दर्शाता है।

संरक्षणवादी क्या चाहते हैं?

(अर्पण शर्माः) वन्यजीव संरक्षण का उद्देश्य पारिस्थितिकी प्रणालियों और भूपरिदृश्यों को यथासंभव उनकी प्राकृतिक स्थिति में बनाये रखना है। इसलिए, अगर निवास-स्थलों के किसी भूखंड में वन्यजीवों और पेड़पौधों की जातियों की एक निश्चित विविधता और सघनता उनकी प्राकृतिक स्थिति में है, और अगर हम उसे हस्तक्षेप करके बढ़ा सकते हैं, तब भी उससे संरक्षण के दृष्टिकोण से एक अधिक वांछनीय स्थिति नहीं बनती है।

(ध्रुपद चौधरीः) मैं मानता हूँ कि संरक्षण का अर्थ बाहरी और नयी जीवजातियों को प्रवेश कराकर या हस्तक्षेप करके विविधता को बढ़ाना नहीं है। लेकिन शर्मा की मान्यता की एक बुनियादी त्रुटि यह है कि हमें भू-परिदृश्यों को उनकी प्राकृतिक अवस्था में बनाये रखना चाहिए; संरक्षण के लिए किये गये किसी भी प्रयास का संबंध उचित संसाधन प्रबंध के साथ है, जिसमें आजीविकाओं का प्रबंध संसाधनों के आधार को क्षति पहुँचाये बिना किया जाता है।

(सी.एन. अनिल:) पूर्वोत्तर क्षेत्र में उद्यान-कृषि एवं कृषि संबंधी नीतियों का उद्देश्य दोनों संरक्षण और आजीविकाओं के लिए बाहरी जीवजातियों का प्रवेश कराना है; आजीविकाओं में दोनों जीवन-निर्वाहोन्मुख एवं बाजारोन्मुख आजीविकाएं शामिल हैं। कई सारे कारणों के चलते ये नीतियां सफल नहीं हुई हैं। उन्होंने किसानों को बुरी हालत में डाल दिया है और बाहरी पेड़-पौधों को लगाने से उच्चभूमियों पर उपजने वाले धान सहित देशी फसलों की जीन राशि को नुकसान हुआ है।

झूम किसान क्या चाहते हैं?

(पेलजांग वांगचुक:) हम क्यों जैव विविधता पर ध्यान केंद्रित करते हैं जबकि किसानों की स्पष्ट रूप से अपनी प्राथमिकताएं और जरूरतें हैं? झूम किसानों को अपने दैनिक भोजन के लिए वन्यजीवों या वन्यजीवों के निवास-स्थलों की जरूरत नहीं है। यह झूम किसानों की बुनियादी जरूरत नहीं है। तब फिर हम इसे झूम मुद्दा क्यों मानते हैं? हम झूम संस्कृति और झूम किसानों के अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं, वही हमारी चिंता का विषय है, है न? झूम क्षेत्र गरीब किसानों के खाद्य भंडार हैं। क्या वन्यजीव संरक्षणवादियों के पास जगह की कमी हो गयी है जिसके चलते वे अभी झूम क्षेत्रों पर अतिक्रमण करने के लिए मजबूर हो गये हैं? या फिर इसलिए कि झूम क्षेत्र आसानी से उपलब्ध हैं क्योंकि वे गरीबों के इलाके हैं, जो आवाज उठा नहीं सकते, जिनकी कोई राजनैतिक जोड़-तोड़ या समर्थन नहीं है? इस बात को सुनिश्चित कीजिए कि वन्यजीव संरक्षणवादी किसानों से बहुत ज्यादा जमीनें न ले लें!

“परती जमीन की मूल भूमिका आजीविका का एक स्रोत प्रदान करना है, हाथियों के लिए खेल का मैदान नहीं।”

वन्यजीवों का स्वागत है, लेकिन उसे एक झमेला नहीं बनना चाहिए। भूटान में जब बाघ लोगों की मवेशियों को मार देते हैं तो हम उसकी भरपाई करते हैं। योजना यह है कि वन्यजीवों द्वारा नष्ट किये गये फसलों के लिए किसानों को मुआवजा देना शुरू किया जाये। हालांकि यह एक खर्चीला और प्रशासनिक रूप से चुनौती भरा कार्य है, हम नहीं चाहते कि किसान और उनके परिवार अपने फसलों की रक्षा के लिए रातभर रखवाली करते रहें। परती जमीन की मूल भूमिका आजीविका का एक स्रोत प्रदान करना है, हाथियों के लिए खेल का मैदान नहीं। जैव विविधता पर चर्चा का केन्द्रीय मुद्दा जैव विविधता से झूम किसानों को होने वाला फायदा होना चाहिए।

“संरक्षण और किसानों के अधिकारों के बीच एक संतुलन कायम करना, और नीति निर्धारकों को प्रणाली को उसकी समग्रता में देखने की दृष्टि देने में मदद करना एक चुनौती है।”

(सी0एन0 अनिल:) मैं मानता हूँ कि संरक्षण जरूरी है, बशर्ते कि उससे झूम किसानों के जीवन निर्वाह के प्रयासों में योगदान हो और जीने के उनके अधिकार में मूल्यवर्द्धन हो। अक्सर लोग इस तथ्य को भूल जाते हैं कि किसान हाशिये पर जी रहे हैं और संरक्षणवादी आंदोलन उनको आदिम और पिछड़े मानता है। हमारा लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि उनकी बात सुनी जाये और उन पर तथा उनकी पद्धतियों पर ध्यान दिया जाये। संरक्षण और किसानों के अधिकारों के बीच एक संतुलन कायम करना और नीति-निर्धारकों को सिर्फ कुछ पहलुओं पर नहीं बल्कि पारिस्थितिक प्रणाली को उसकी समग्रता में देखने की दृष्टि देने में मदद करना एक चुनौती है।

(मधु सरिन:) जैव विविधता और वन्यजीवों का संरक्षण निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण है और मनुष्यों की जरूरतों को पूरा करने को इस हद तक प्राथमिकता नहीं देनी चाहिए कि अन्य जीवजातियों के खाल्ते को आप उचित ठहराने लें। जिन निर्णय प्रक्रियाओं द्वारा रक्षा की जरूरतवाले क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जाती है उन पर सवाल खड़ा करने की जरूरत है। अभी यह अक्सर किया जाता है, भले ही उन पर निर्भर लोगों को जो भी कीमत चुकानी पड़े। वर्तमान में, इस निर्णय प्रक्रिया पर संरक्षणवादियों का प्रबल एकाधिकार है।

अक्षत आदि प्रकृति या एक मानव भू-दृश्य?

(एलिसाबेथ केरखोफ:) क्या प्रकृति का संरक्षण करने का अर्थ यही है कि हम भू-दृश्यों का संरक्षण उनकी “प्राकृतिक” अवस्था के रूप में करें? अन्य वनस्पति लोगों के सौंदर्य एवं अन्य मूल्यों के लिए महत्वपूर्ण हो सकती है। लेकिन कभी-कभी इस बात का आकलन करना कठिन होता है कि लंबे समय से जिन भूदृश्यों पर मनुष्यों का प्रभाव रहा हो उनकी “प्राकृतिक” स्थिति कैसी होगी? हिमालय पर्वतों के पूर्वांचल में, जहाँ लोग युगों से रहते आये हैं, वहाँ यह कहना बहुत कठिन है कि कौन-से वन “प्राकृतिक” या “आदि” हैं और कौन नहीं। दूसरी तरफ, यह मानना आसान होगा कि चूंकि इन क्षेत्रों में इतने लंबे समय से लोगों ने फसल लगाये हैं और जमीनों को परती रखा है, इसलिए आज वहाँ मौजूद जैव विविधता की संपदा के लिए लोग भी आंशिक रूप से जिम्मेदार हैं। दूसरे शब्दों में, अगर आप लोगों को क्षेत्र से बाहर रखते हैं तो इस बात की संभावना है कि जैवविविधता नष्ट हो जायेगी।

“असल में यह अक्षत प्राकृतिक वनों” का ख्याल प्रथमतः आया कहाँ से?”

प्रथमतः यह “अक्षत प्राकृतिक वनों” (मनुष्यों द्वारा अछूते) का ख्याल कहाँ से आया? चालू बहस में, इसे “प्रकृति के बारे में पुरातन दृष्टिकोण” कहा गया है, और इस प्रकार के अछूते वन तो सिर्फ मिथकों में हैं। फिर भी, आज भी यह धारणा



झूम खेती के बदले नगदी फसल की सघन खेती। तस्वीर : क्रिश्चियन एर्नी

लोगों के विचारों को धुंधलाती रहती है।

(धुपद चौधरी:) संसाधनों के मूल्य के बारे में विभिन्न बुनियादी समझ हैं। ये समझ उपयोगितावादी हो सकती हैं, पारिस्थितिकीय हो सकती हैं या सौंदर्य बोध की हो सकती हैं। सौंदर्यबोधी लोग “प्रकृति” को यथावत बनाये रखना चाहते हैं और उनमें इस पर अति रोमानी रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति होती है। वे भूल जाते हैं कि क्रम विकास की प्रक्रिया जारी है और प्रकृत गतिमान है।

(सुंदर सुब्रमण्यन:) आज कई लोग समझते हैं कि “संरक्षण” में निवेश करना एक बढ़िया व्यावसायिक समझ है, और यह सिर्फ परोपकार नहीं है। अगर समग्र अर्थ में संरक्षण करना है तो प्रशासकों को यह भी ठीक से समझना चाहिए कि ऐसी व्यवस्था विकसित करनी चाहिए जिसमें झूम किसान खुद हर अर्थ में संरक्षण के प्रयासों का प्रबंध करें, नियंत्रण भी करें। इसी पद्धति से हर पक्ष फायदे में रहेगा।

(मधु सरिन:) जैसा कि पहले ही कहा गया है, अक्षत अछूती आदि प्रकृति एक मिथकीय प्राकृतिक स्थिति है क्योंकि सदियों से मनुष्य भू-परिदृश्यों को रूपांतरित कर चुके हैं, बदल चुके हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सदियों से मनुष्यों और आदि प्रकृति के बीच हुई परस्पर अंतर्क्रिया द्वारा बहुमूल्य कृषि-जैव विविधता का सृजन हुआ है। मेरी समझ के मुताबिक, सदियों से झूम कृषि की एक प्रमुख देन है- कृषि-जैवविविधता और उससे

उत्पन्न देशी ज्ञान में उसका योगदान। कौन यह निर्णय करेगा कि फसलों के ये किस्म मिथकीय आदि प्रकृति से कम महत्वपूर्ण हैं जिसके चलते आज झूम पर प्रतिबंध लगाये जा रहे हैं? निश्चय ही इस बात के निर्धारण में झूम किसानों की भागीदारी होनी चाहिए कि किस जैव विविधता का संरक्षण करने की जरूरत है और यह कैसे की जानी चाहिए?

नीतिगत मुद्दे

(मधु सरिन:) दोनों स्थिर और झूम खेती में, लोगों का सामना वन्य जीवों से होता है और वे अपनी खाद्य फसलों के उत्पादन के लिए प्राकृतिक वनस्पति को नष्ट करते हैं। समस्या यह है कि संरक्षणवादी सिर्फ झूम कृषकों को प्रकृति में घुसपैठिया मानते हैं क्योंकि अभी भी उनके पास जंगल हैं जबकि वे स्थिर कृषकों से वन्यजीवों या प्राकृतिक जैव विविधता के संरक्षण की अपेक्षा नहीं करते हैं क्योंकि उनके पास कोई जंगल ही नहीं। दरअसल, इसका विपरीत ही सच है : स्थिर खेती वनों, वन्यजीव निवास स्थलों और जैवविविधता के विनाश के लिए जिम्मेदार रही है।

(धुपद चौधरी:) यह सच है कि झूम खेती से वनावरण में बदलाव आता है, लेकिन वह वनों को उतना खतम नहीं करती जितना स्थिर खेती में रूपांतरित होने से होता है; झूम खेती परती वनों को पुनरुज्जीवित होने देती है। इससे झूम खेती वन

प्रबंधन की एक पद्धति बनती है।

“झूम खेती जमीन पर वन प्रबंधन की एक पद्धति है”

भारत में भूमि के उपयोग का वर्गीकरण निजी (या स्थिर) भू-धृति व्यवस्थाओं पर आधारित है। यही समस्या है। चूँकि श्रेणियाँ स्थिर खेती पर आधारित हैं, इसलिए झूम की परती भूमियों का वर्गीकरण वनों के अंतर्गत होता है, कभी भी कृषियोग्य भूमियों के रूप में नहीं; अभी उपयोग में नहीं लायी जा रही भूमि के रूप में। व्यवहार में, इनमें से कई परती झूम भूमियों को स्थायी रोपस्थलियों (Plantations) में बदल दिया गया है या वानिकी कार्यक्रमों के अंतर्गत ले आया गया है। इसके फलस्वरूप झूम खेती के लिए उपलब्ध भूमियाँ कम हो गयी हैं और भूमि परती रखने की चक्रावधियाँ छोटी हो गयी हैं, जिससे किसान हाशिये पर चले गये हैं और खाद्य सुरक्षा घट गयी है। मेरी यह दृढ़ भावना है कि परती झूम भूमियों का वर्गीकरण कृषि भूमियों (अभी इस्तेमाल नहीं की जा रही भूमियों) के रूप में करना चाहिए, वनभूमि के रूप में नहीं!

“हमारा प्रबल कानूनी ढाँचा निजी संपत्ति के अधिकारों की रक्षा करने पर केन्द्रित है, जिससे अतिक्रमण के सामने सामुदायिक संपत्ति के अधिकार अत्यंत कमजोर पड़ जाते हैं।”

(मधु सरीन) : सामुदायिक बनाम निजी संपत्ति के अधिकारों का मुद्दा एक सापेक्ष मुद्दा है। हमारा कानूनी ढाँचा निजी संपत्ति के अधिकारों पर केन्द्रित है जिससे सामुदायिक संपत्ति के अधिकार राज्य और व्यावसायिक हितों द्वारा किये गये अतिक्रमण के सामने अत्यंत कमजोर पड़ जाते हैं। इसी के चलते अधिकतर सामुदायिक भूमियों को “वनभूमि” या “बंजर भूमि” के रूप में वन संपत्ति घोषित किया गया और राजस्व के लिए उनका उपयोग किया जाता है। झूम भूमियों पर व्यक्तिगत अधिकारों को द्वंद्वार्थक रूप से परिभाषित किया गया है जिसका फायदा उठाते हुए वन विभाग उनका वर्गीकरण “वनभूमियों” के रूप में करता है। इसमें वनों, वन्य जीवों और जैव विविधता के संरक्षण से संबंधित दुनिया भर के कानूनों का इस्तेमाल करके झूम भूमि संसाधनों पर स्थानीय प्रबंधन के नियंत्रण को अधिकाधिक अशक्त बना दिया गया है।

निष्कर्ष :

उपरोक्त चर्चा में सुझाव दिये गये हैं कि कैसे झूम खेती का प्रबंध किया जा सकता है और वन्य जीवों और अन्य जैवविविधता के संरक्षण के लिए उसमें सुधार किया जा सकता है बशर्ते कि किसानों को प्रोत्साहन दिये जायें और नीतिगत अवरोध हटा दिये जायें। इसके लिए वास्तविकता के आधार पर संरक्षण के उद्देश्यों को निर्धारित करना चाहिए (यानी “आदि अक्षत प्रकृति” की बात को हटाते हुए), और प्रत्येक मामले में अधिक गहन शोध की जरूरत है। किसानों को दिये जाने वाले प्रोत्साहनों में उनके इलाके में संरक्षण संबंधी गतिविधियों पर

अधिक नियंत्रण, संरक्षण संबंधित गतिविधियों (यानी पर्यटन या वन्यजीव प्रबंधन में रोजगार) से आय या उनके वन संसाधनों पर उनका अधिक नियंत्रण शामिल करना चाहिए। इस चर्चा से जो निष्कर्ष निकलते हैं उनसे हिमालय के पूर्वांचल में झूम खेती पर एक नीतिगत संवाद चलाने में योगदान हुआ है जिन्होंने कई नीतिगत मुद्दों और सिफारिशों पर सहमति जतायी है। इससे बने दस्तावेज से झूम और वन्यजीव संरक्षण से संबंधित उद्घरण नीचे दिये गये हैं।

“किसानों की कृषि पद्धतियों, देशी जानकारी और झूम खेती से जुड़ी प्रथाओं से जैव विविधता के संरक्षण में मदद हुई है। दूसरे शब्दों में, वन संरक्षण में योगदान करने में झूम खेती की ताकत उसके द्वारा सृजित जैव विविधता है। झूम खेती निम्नलिखित चीजों द्वारा जैव विविधता के संरक्षण को लाभान्वित करती है : उच्चस्तरीय आजीविका निर्भरता जो संरक्षण के लिए प्रोत्साहन देती है; मिश्र फसलों, बीज विकास और उत्पादन स्थल पर जीव राशि का संरक्षण करने के लिए प्रचुर हुनर विकसित करती है; चक्रीय प्रक्रिया के माध्यम से विभिन्न उत्तरोत्तर चरणों का सृजन करती है; और समृद्ध देशी जानकारी (और खास करके परंपरागत पारिस्थितिकीय ज्ञान) और सांस्कृतिक व्यवहारों को विकसित करती है। झूम खेती मधुवर्ती अंचलों में संरक्षित क्षेत्रों में तथा संरक्षित क्षेत्रों के बीच स्थित जैव-विविधता के गलियारों में संरक्षण की गतिविधियों में योगदान करने में एक कम सघन भू-उपयोग प्रणाली प्रस्तुत कर सकती है। झूम कृषकों में मिट्टी और जल, जैव विविधता और जीन राशियों के संरक्षण और कार्बन पृथक्करण जैसी कई पर्यावरण सेवाएं प्रदान करने के लिए जरूरी हुनर और ज्ञान होते हैं। आय और रोजगार के स्थायी स्रोत जुटाने के लिए उनकी इस संभावना को काम में लगाया जा सकता है।”

झूम खेती के बारे में (समाज में मौजूद) नकारात्मक सोचों से बनी सभी नीतियों में बुनियादी बात यह है कि झूम खेती को हटा कर उसकी जगह स्थायी और स्थिर खेती या अन्य भूमि-आधारित स्थिर गतिविधियों के प्रयोग को कायम करना है। ऐसा सोच झूम खेती के सिद्धान्तों और ताकतों के प्रति संवेदनहीन है। एक सिद्धान्त के रूप में, “झूम किसानों को जैवविविधता के संरक्षण में उनकी भूमिका के लिए पुरस्कृत करना चाहिए, और उनके क्षेत्रों में जैवविविधता संरक्षण के प्रयासों पर उनका अधिक नियंत्रण होना चाहिए।”

सात सिफारिशों में से निम्नलिखित चार झूम खेती और जैव-विविधता संरक्षण से संबंधित हैं :

1. वैसी स्पष्ट नीतियों और नीति संबंधी दस्तावेजों को हटाइए जो झूम खेती को निरुत्साहित करते हैं और वर्तमान नीतियों के कार्यान्वयन को मजबूती देते हैं।
2. झूम खेती के क्षेत्रों का, परती अवधि में अनुकूली वन प्रबंधन के साथ, कृषि भूमि के रूप में वर्गीकरण करके क्षेत्र

विशेष के अनुसार कार्रवाई करते हुए दोनों कृषि एवं परती चरणों में झूम खेती के लिए भू-धृति की सुरक्षा को बढ़ाए।

3. परंपरागत झूम खेती की पद्धतियों के दस्तावेजीकरण और वैज्ञानिक रूप से मान्यता के लिए उनका शोध और विस्तार करने में निवेश कीजिए, और उनकी उत्पादकता और लाभप्रदता को बढ़ाए और पारिस्थितिकीय एवं सामाजिक फायदों में वृद्धि कीजिए, और किसानों द्वारा अपनाये जाने वाले नवाचारों को औपचारिक मान्यता प्रदान कीजिए।

4. बेहतर स्थानीय स्तर के अभिशासन, समुदाय-आधारित प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन और भूधृति उपलब्धता एवं नियंत्रण के लिए पारंपरिक संस्थाओं को सशक्त एवं सक्षम बनाइए।

सहभागी :

- डॉ. धूपद चौधरी, इकोलॉजिस्ट/अपलैंड एन आर एम स्पेशलिस्ट, जी.बी.पंत इंस्टिट्यूट ऑफ हिमालयन एनवायरनमेंट एंड डेवलपमेंट, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश, भारत।
- डॉ. विन्सेंट टी. डारलॉग, एडिशनल डायरेक्टर, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, उड़ीसा, भारत।
- डॉ. क्रिश्चियन एर्नी, सोशल एंथ्रोपोलॉजिस्ट, आइ डब्ल्यू जी आइ ए प्रोग्राम कोऑर्डिनेटर एशिया, चियांग माइ, थाइलैंड।

- सुश्री मधु सरीन, डेवलपमेंट पॉलिसी एडवोकेट, चंडीगढ़, भारत।
- श्री अर्पण शर्मा, मैनेजिंग ट्रस्टी, संरक्षण ट्रस्ट, मेघालय, भारत।
- श्री सुंदर सुब्रमण्यन, डेवलपमेंट कन्सल्टेंट, लीड-इंडिया, हैदराबाद, भारत।
- डॉ. पेलजांग वांगचुक, डिप्यूटी डायरेक्टर, पॉलिसी एंड प्लानिंग डिविजन, कृषि मंत्रालय, भूटान।
- श्री सी.एन. अनिल, कम्प्यूनिटी डेवलपमेंट स्पेशलिस्ट, आइसीआइएमओडी, नेपाल।

नोट :

1. झूमिया नेटवर्क, [Http://in.groups.yahoo.com/group/jhumias/](http://in.groups.yahoo.com/group/jhumias/)
2. डारलॉग, वी.टी. (2004) टू झूम ऑर नॉट टू झूम: पॉलिसी पर्सपेक्टिव्स ऑन शिपिंग कल्टिवेशन। दि मिस्सिंग लिंक (टीएमएल), सोसाइटी फॉर एनवायरनमेंट एंड कम्प्युनिकेशन, इंडिया, पृष्ठ 143.
3. शिपिंग कल्टिवेशन रीजनल पॉलिसी डायलॉग वर्कशॉप फॉर दि ईस्टर्न हिमालयास, शिलांग, 6-8 अक्टूबर 2004, पॉलिसी इस्पूज एंड रिकमंडेशन।

